

Chapter तेरह

सिद्ध पुरुष का आचरण

इस तेरहवें अध्याय में संन्यासियों के लिए अनुष्ठान दिये गये हैं और अवधूत के इतिहास का वर्णन भी हुआ है। इसकी समाप्ति विद्यार्थी के पूर्ण आध्यात्मिक उन्नयन के विवरण के साथ होती है।

श्री नारद मुनि विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों के लक्षणों का वर्णन करते चले आ रहे हैं। अब वे इस अध्याय में संन्यासियों द्वारा पालन किए जाने वाले अनुष्ठानों का विशेष वर्णन करते हैं। गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर मनुष्य को वानप्रस्थ पद स्वीकार करना चाहिए जिसमें इस शरीर को अपने अस्तित्व का साधन मानकर धीरे-धीरे जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को भूल जाना चाहिए। वानप्रस्थ जीवन के पश्चात् घर छोड़कर मनुष्य को संन्यासी रूप में विभिन्न स्थानों का भ्रमण करना चाहिए। शारीरिक सुख के बिना तथा शारीरिक आवश्यकताओं के लिए किसी की निर्भरता स्वीकार किये बिना उसे प्रायः कुछ भी पहने बिना अर्थात् नग्न घूमना चाहिए। उसे सामान्य मानव समाज के सम्पर्क में आये बिना भीख माँग कर आत्मतुष्ट रहना चाहिए। उसे हर जीव का मित्र होना चाहिए और कृष्णभावनामृत में अत्यन्त शान्त रहना चाहिए। संन्यासी को इस तरह अकेले विचरण करना चाहिए और जीवन या मृत्यु की परवाह नहीं करनी चाहिए। और उस क्षण की प्रतिक्षा करते रहना चाहिए जब उसे यह भौतिक शरीर त्यागना होगा। उसे न तो अनावश्यक पुस्तकें पढ़नी चाहिए, न ज्योतिष जैसा व्यवसाय ग्रहण करना चाहिए, न ही उसे महान् वक्ता बनने का यत्न करना चाहिए। उसे व्यर्थ का तर्क-वितर्क भी नहीं

करना चाहिए और न किसी परिस्थिति में किसी पर आश्रित रहना चाहिए। उसे अन्यो को अपना शिष्य बनने का प्रलोभन नहीं देना चाहिए ताकी उसके शिष्यों की संख्या बढ़ जाए। उसे जीविका के रूप में सामान्य पुस्तकें पढ़ने की आदत छोड़ देनी चाहिए, न ही मन्दिरों तथा मठों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार जब मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र, शान्त तथा समभाव बन जाता है, तो वह मृत्यु के बाद मनवांछित स्थान को चुन सकता है। पूर्ण विद्वान होने पर भी उसे सदैव गूँगे के समान मौन बने रहना चाहिए और चंचल बालक की भाँति विचरण करते रहना चाहिए।

इस प्रसंग में नारद मुनि ने प्रह्लाद तथा एक साधु पुरुष की भेंट का वर्णन किया है, जो जीवन में अजगर वृत्ति धारण किये था। इस तरह उन्होंने परमहंस के लक्षणों का उल्लेख किया है। जिस व्यक्ति ने परमहंस अवस्था प्राप्त कर ली है, वह पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर को भली भाँति जानता है। वह अपनी भौतिक इन्द्रियों की तृप्ति में रुचि नहीं रखता, क्योंकि उसे भगवान् की भक्ति करने में सदैव आनन्द की प्राप्ति होती रहती है। वह अपने भौतिक शरीर की रक्षा नहीं चाहता। उसे भगवत्कृपा से जो कुछ प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहकर सुख-दुख से पूर्णतया स्वतंत्र होकर समस्त अनुष्ठानों से परे रहता है। कभी वह कठिन तपस्या करता है, तो कभी भौतिक ऐश्वर्य ग्रहण करता है। उसकी एकमात्र चिन्ता कृष्ण को तुष्ट करने में रहती है, जिसके लिए वह अनुष्ठानों की परवाह न करता हुआ कुछ भी कर सकता है। उसकी तुलना भौतिकतावादी पुरुषों से नहीं की जाती, न ही उसे ऐसे लोगों के निर्णय की आवश्यकता होती है।

श्रीनारद उवाच

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः ।

ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; कल्पः—वह व्यक्ति जो संन्यास आश्रम की तपस्या करने या दिव्य ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए दक्ष है; तु—लेकिन; एवम्—इस प्रकार (जैसाकि पहले कहा गया है); परिव्रज्य—अपनी आत्मिक पहचान को समझते हुए तथा एक स्थान से दूसरे स्थान का विचरण करते हुए; देह-मात्र—केवल शरीर का पालन करते हुए; अवशेषितः—अन्ततः; ग्राम—गाँव में; एक—केवल एक; रात्र—रात गुजारने का; विधिना—विधि से; निरपेक्षः—किसी वस्तु पर आश्रित न रहते हुए; चरेत्—एक स्थान से दूसरे की यात्रा करे; महीम्—पृथ्वी पर।

श्री नारद मुनि ने कहा : जो व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन कर सकता है उसे सारे भौतिक सम्बन्धों का परित्याग कर देना चाहिए और शरीर को सक्षम बनाये रखकर उसे प्रत्येक

गाँव में केवल एक रात बिताते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करनी चाहिए। इस प्रकार संन्यासी को शरीर की आवश्यकताओं के लिए किसी पर निर्भर रहे बिना सारे संसार में विचरण करना चाहिए।

बिभृयाद्यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न लिङ्गादण्डादेरन्यत्किञ्चिदनापदि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

बिभृयात्—प्रयोग करे; यदि—यदि; असौ—संन्यास आश्रम का व्यक्ति; वासः—वस्त्र या अंगोछा; कौपीन—लंगोटा (गुप्तांगों को ढकने के लिए); आच्छादनम्—ढकने के लिए; परम्—केवल, इतना ही; त्यक्तम्—छोड़ा गया; न—नहीं; लिङ्गात्—संन्यासी के लक्षणों की अपेक्षा; दण्ड-आदेः—डंडा जैसा (त्रिदण्ड); अन्यत्—दूसरा; किञ्चित्—कुछ भी; अनापदि—सामान्य आपत्तिरहित समय में।

संन्यास आश्रम के व्यक्ति को अपना शरीर ढकने के लिए वस्त्र तक का भी उपयोग नहीं करना चाहिए। यदि उसे कुछ पहनना हो तो उसे कौपीन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पहनना चाहिए और यदि आवश्यकता न हो तो संन्यासी को दण्ड भी नहीं धारण करना चाहिए। संन्यासी को दण्ड तथा कमण्डल के अतिरिक्त कुछ भी साथ में नहीं रखना चाहिए।

एक एव चरेद्भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; एव—केवल; चरेत्—घूम सकता है; भिक्षुः—भिक्षा माँगने वाला संन्यासी; आत्म-आरामः—आत्मतुष्टि; अनपाश्रयः—किसी वस्तु पर आश्रित न रहकर; सर्व-भूत-सुहृत्—सभी जीवों का शुभचिन्तक बनकर; शान्तः—पूर्णतया शान्त; नारायण-परायणः—नारायण पर आश्रित होकर एवं उनका भक्त बनकर।

आत्मतुष्टि संन्यासी को चाहिए कि वह द्वार-द्वार से भीख माँगकर जीवन-यापन करे। किसी व्यक्ति या स्थान पर आश्रित न रहकर उसे समस्त जीवों का सुहृद् होना चाहिए। उसे नारायण का शान्त अनन्य भक्त होना चाहिए। इस प्रकार उसे एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहना चाहिए।

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये ।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पश्येत्—देखे; आत्मनि—परमात्मा में; अदः—इस; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; परे—परे; सत्-असत्—सृष्टि या सृष्टि का कारण; अव्यये—अव्यय ब्रह्म में; आत्मानम्—स्वयं; च—भी; परम्—सर्वश्रेष्ठ; ब्रह्म—ब्रह्म में; सर्वत्र—सभी जगह; सत्-असत्—कारण-कार्य में; मये—सर्वव्यापी।

संन्यासी को चाहिए कि वह परब्रह्म को प्रत्येक वस्तु में सदा व्याप्त देखने का प्रयास करे और ब्रह्माण्ड समेत प्रत्येक वस्तु को जिसमें यह ब्रह्माण्ड भी है, जो परब्रह्म पर टिका देखे।

सुप्तिप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् ।

पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सुप्ति—अचेतनावस्था में; प्रबोधयोः—चेतना अवस्था में; सन्धौ—सन्धि अवस्था में; आत्मनः—अपनी आत्मा में; गतिम्—गति; आत्म-दृक्—जो आत्मा को देख सकता है; पश्यन्—देखने या समझने का प्रयास करते हुए; बन्धम्—जीवन की बद्ध अवस्था; च—तथा; मोक्षम्—जीवन की मुक्त अवस्था; च—भी; माया-मात्रम्—मात्र मोह; न—नहीं; वस्तुतः—वास्तव में।

उसे अचेतना तथा चेतना अवस्थाओं में इन दोनों के बीच की अवस्था में अपने आपको समझने का प्रयत्न करना चाहिए और आत्म-स्थित होना चाहिए। इस प्रकार उसे यह अनुभव करना चाहिए कि जीवन की बद्ध तथा मुक्त अवस्थाएँ मात्र भ्रम हैं, वे वास्तविक नहीं हैं। ऐसे उच्च ज्ञान से उसे सर्वव्यापी परम सत्य का दर्शन करना चाहिए।

तात्पर्य : अचेतना अवस्था अज्ञान, अंधकार या भौतिक जगत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। चेतना अवस्था में मनुष्य जाग्रत रहता है। अचेतना तथा चेतना दोनों की मध्यावस्था में कोई स्थायी अस्तित्व नहीं रहता। अतएव जो व्यक्ति अपने को समझने में बढ़ा चढ़ा है उसे यह समझ लेना चाहिए कि अचेतन तथा चेतन मात्र भ्रम हैं, क्योंकि मूलतः इनका अस्तित्व नहीं होता। केवल परम सत्य का ही अस्तित्व है। जैसाकि भगवान् ने भगवद्गीता (९.४) में पुष्टि की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

“यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप में मुझसे व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।” प्रत्येक वस्तु कृष्ण के निराकार रूप के आधार पर विद्यमान रहती है; कृष्ण के बिना कुछ भी नहीं रह सकता। अतएव कृष्ण का श्रेष्ठ भक्त भगवान् को बिना भ्रम के सर्वत्र देख सकता है।

नाभिनन्देद्ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् ।

कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अभिनन्देत्—प्रशंसा करे; ध्रुवम्—निश्चित, ध्रुव; मृत्युम्—मृत्यु; अध्रुवम्—अनिश्चित; वा—अथवा; अस्य—इस शरीर की; जीवितम्—उम्र; कालम्—शाश्वत समय; परम्—परम; प्रतीक्षेत—अवलोकन करे; भूतानाम्—जीवों का; प्रभव—प्राकट्य; अप्ययम्—अन्तर्धान होना।

चूँकि भौतिक शरीर का विनाश निश्चित है और मनुष्य की आयु स्थिर नहीं है अतएव न तो मृत्यु की, न ही जीवन की प्रशंसा की जानी चाहिए। प्रत्युत मनुष्य को नित्य काल का अवलोकन करना चाहिए जिसमें जीव अपने आपको प्रकट करता है और अन्तर्धान होता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सारे जीव न केवल वर्तमान काल में अपितु भूतकाल में भी जन्म तथा मृत्यु की समस्या का हल निकालने का प्रयास करते रहे हैं। कुछ लोग मृत्यु पर बल देते हैं और प्रत्येक भौतिक वस्तु को भ्रम बताते हैं जबकि अन्य लोग जीवन पर बल देते हैं और इसे अक्षुण्ण तौरपर सुरक्षित रखकर यथाशक्ति भोग करना चाहते हैं। ये दोनों प्रकार के लोग मूर्ख तथा मूढ़ हैं। यह सलाह दी जाती है कि मनुष्य शाश्वत काल का अवलोकन करे जो भौतिक शरीर के प्राकट्य तथा अन्तर्धान का कारण है। और इस शाश्वत काल में जीव के बन्धन को देखे। अतएव श्रीलभक्ति विनोद ठाकुर ने अपनी गीतावली में गाया है—

अनादि करम-फले, पड़ि 'भवार्णव जले,

तरिंबारे ना देखि उपाय।

मनुष्य को शाश्वत काल की गतिविधियों का अवलोकन करना चाहिए, क्योंकि यही जन्म-मृत्यु का कारण है। वर्तमान युग की सृष्टि के पूर्व सारे जीव काल के अधीन थे। काल के ही अन्तर्गत यह भौतिक जगत उत्पन्न होता है और पुनः विनष्ट हो जाता है। भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। काल के वशीभूत होकर जीव जन्म-जन्मांतर प्रकट होते तथा मरते हैं। यह काल भगवान् की निराकार अभिव्यक्ति है, जो प्रकृति द्वारा बद्धजीवों को भगवान् की शरण में जाकर उससे उबरने का अवसर प्रदान करता है।

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।

वादवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंच न संश्रयेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; असत्-शास्त्रेषु—समाचार पत्र, उपन्यास, नाटक, कल्पित-कथा जैसा साहित्य; सज्जेत—पढ़े या आसक्त हो; न—न तो; उपजीवेत—रहने का प्रयास करे; जीविकाम्—किसी व्यावसायिक साहित्यिक वृत्तिपरक; वाद-वादान्—दर्शन के विविध पक्षों पर वृथा के तर्क वितर्क; त्यजेत्—छोड़ दे; तर्कान्—तर्कों को; पक्षम्—पक्ष, दल; कंच—कोई; न—नहीं; संश्रयेत्—शरण ग्रहण करे।

समय का व्यर्थ अपव्यय कराने वाले अर्थात् आध्यात्मिक लाभ से विहीन साहित्य का तिरस्कार करना चाहिए। न तो कोई अपनी जीविका कमाने के लिए वृत्तिपरक शिक्षक बने, न वाद-विवाद में भाग ले। न ही वह किसी कारण या पक्ष की शरण ले।

तात्पर्य : आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने के इच्छुक व्यक्ति को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए कि वह सामान्य साहित्य पढ़ने से बचे। यह संसार ऐसे सामान्य साहित्य से भरा पड़ा है, जो व्यर्थ में मन को क्षुब्ध करने वाला होता है। ऐसा साहित्य जिसमें समाचारपत्र, नाटक, उपन्यास तथा पत्रिकाएँ सम्मिलित हैं वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति के लिए नहीं है। इसे तो कौवों का क्रीड़ास्थल (*तद्वायसं तीर्थम्*) कहा गया है। आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने वाले को ऐसे साहित्य का तिरस्कार करना चाहिए। न ही मनुष्य को विभिन्न तार्किकों या दार्शनिकों के निष्कर्षों से सम्बन्ध रखना चाहिए। निस्सन्देह, प्रचारकों को कभी-कभी विपक्षियों के कथन पर तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु जहाँ तक सम्भव हो ऐसे वाद-विवाद की मनोवृत्ति से बचना चाहिए। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

अप्रयोजनपक्षं न संश्रयेत्

नाप्रयोजनपक्षी स्यान्न वृथा शिष्यबन्धकृत।

न चोदासीनः शास्त्राणि न विरुद्धानि चाभ्यसेत् ॥

न व्याख्ययोपजीवेत न निषिद्धान् समाचरेत्।

एवम्भूतो यतिर्याति तदेकशरणो हरिम् ॥

“न तो वृथा साहित्य का प्रश्रय ग्रहण करे, न उन तथाकथित अनेक दार्शनिकों तथा विचारकों से सम्बन्ध रखे जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए व्यर्थ हैं। न ही फैशन या लोकप्रियता के लिए किसी को शिष्य बनाए। मनुष्य इन तथाकथित शास्त्रों के प्रति निरपेक्ष बना रहे—न तो पक्ष ले, न विरोध करे। न ही शास्त्रों की व्याख्या के लिए धन लेकर अपनी जीविका चलाए। संन्यासी को सदा उदासीन रहना चाहिए और भगवान् के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण करके आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए साधनों की खोज करनी चाहिए।”

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; शिष्यान्—शिष्यों को; अनुबध्नीत—भौतिक लाभ के लिए प्रेरित करे; ग्रन्थान्—व्यर्थ का साहित्य; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अभ्यसेत्—समझने या अनुशीलन करने का प्रयास करे; बहून्—अनेक; न—नहीं; व्याख्याम्—व्याख्यान को; उपयुञ्जीत—जीविका का साधन बनाए; न—न तो; आरम्भान्—अनावश्यक ऐश्वर्य; आरभेत्—बढ़ाने का यत्न करे; क्वचित्—कभी भी।

संन्यासी को चाहिए कि वह न तो अनेक शिष्य एकत्र करने के लिए भौतिक लाभों का प्रलोभन दे, न व्यर्थ ही अनेक पुस्तकें पढ़े, न जीविका के साधन के रूप में व्याख्यान दे। न व्यर्थ ही भौतिक ऐश्वर्य बढ़ाने का कभी कोई प्रयास करे।

तात्पर्य : सामान्यतः तथाकथित स्वामी तथा योगी लोगों को भौतिक लाभों का प्रलोभन देकर शिष्य बनाते हैं। ऐसे अनेक तथाकथित गुरु हैं, जो रोगों को अच्छा करने या सोना बनाकर भौतिक ऐश्वर्य को बढ़ाने का वादा करके शिष्यों को आकर्षित करते हैं। ये रुपये-पैसे वाले प्रलोभन अज्ञानी व्यक्तियों के लिए होते हैं। संन्यासी को ऐसे भौतिक प्रलोभनों द्वारा शिष्य बनाना वर्जित है। कभी-कभी संन्यासी अनेक मन्दिर तथा मठ बनवाकर भौतिक ऐश्वर्य में फँस जाते हैं, लेकिन वास्तव में ऐसे प्रयासों से बचना चाहिए। मन्दिरों तथा मठों का निर्माण आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए किया जाना चाहिए, न कि ऐसे लोगों के लिए निःशुल्क होटलों की व्यवस्था करने के लिए जो भौतिक या आध्यात्मिक कार्यों के लिए उपयोगी नहीं होते। मन्दिरों तथा मठों को सनकी व्यक्तियों के निकम्मे क्लबों की सीमाओं से दूर रखना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हम उस प्रत्येक व्यक्ति का स्वागत करते हैं, जो आन्दोलन के अनुष्ठानों की सीमाओं से दूर रखना—अवैध मैथुन न करने, नशा न करने, मांस न खाने तथा जुआ न खेलने—पालन के लिए तैयार हो जाता है। मन्दिरों तथा मठों में अनावश्यक, त्यक्त, आलसी व्यक्तियों की भीड़ करने की अनुमति बिल्कुल नहीं दी जानी चाहिए। इनका उपयोग केवल उन भक्तों के लिए होना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक प्रगति करने के लिए गम्भीर हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने आरम्भान् शब्द का अर्थ मठादि-व्यापारान् लगाया है, जिसका अर्थ है “मन्दिर तथा मठ बनाने के प्रयास”। संन्यासी का प्रधान कार्य तो कृष्णभावनामृत का प्रचार करना है, किन्तु यदि भगवत्कृपा से सुविधाएँ उपलब्ध हों तो वह

कृष्णभावनामृत के प्रचार छात्रों को आश्रय देने के लिए मन्दिरों तथा मठों का निर्माण करा सकता है। अन्यथा ऐसे मन्दिरों तथा मठों की कोई आवश्यकता नहीं है।

न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः ।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यते:—संन्यासी का; आश्रमः—प्रतीकात्मक वेश (दण्ड तथा कमण्डलु); प्रायः—लगभग सदैव; धर्म-हेतुः—आध्यात्मिक जीवन में प्रगति का कारण; महा-आत्मनः—जो वास्तव में महान् है; शान्तस्य—जो शान्त है; सम-चित्तस्य—समदर्शी का; बिभृयात्—(ऐसे प्रतीक) स्वीकार कर ले; उत—निस्सन्देह; वा—अथवा; त्यजेत्—त्याग दे।

ऐसे शान्त समदर्शी व्यक्ति को जो आध्यात्मिक चेतना में सचमुच बढ़ा-चढ़ा है, संन्यासी के प्रतीकों—यथा त्रिदण्ड तथा कमण्डल—को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह आवश्यकतानुसार इन प्रतीकों को कभी धारण कर सकता है, तो कभी छोड़ सकता है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम की चार अवस्थाएँ हैं—कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य तथा परमहंस। श्रीमद्भागवतमें परमहंसों की गणना संन्यासियों में की गई है। मायावादी निर्विशेषवादी संन्यासी इस परमहंस अवस्था को नहीं प्राप्त कर पाते। इसका कारण परम सत्य विषयक उनकी निर्विशेष धारणा है। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दते*। परम सत्य का अनुभव तीन अवस्थाओं में किया जाता है जिनमें *भगवान्* अर्थात् भगवान् की अनुभूति परमहंसों के लिए है। निस्सन्देह, *श्रीमद्भागवत* स्वयं भी परमहंसों के निमित्त है (*परमो निर्मत्सराणाम् सताम्*)। जब तक कोई परमहंस अवस्था को प्राप्त नहीं हो लेता तब तक वह *श्रीमद्भागवत* को समझने का अधिकारी नहीं होता। वैष्णव सम्प्रदाय में परमहंसों या संन्यासियों का प्रथम कर्तव्य धर्म प्रचार है। प्रचार के लिए ऐसा संन्यासी दण्ड तथा कमण्डल जैसे संन्यास-प्रतीक धारण कर सकता है और कभी उन्हें नहीं भी। सामान्यतया वैष्णव संन्यासी परमहंस होने के कारण स्वतः बाबाजी कहलाते हैं और वे दण्ड या कमण्डल नहीं धारण करते। ऐसा संन्यासी संन्यास के प्रतीकों को धारण करने या न करने के लिए स्वतंत्र है। उसका एकमात्र विचार यही रहता है “कृष्णभावनामृत का प्रचार करने का अवसर कहाँ है?” कभी-कभी कृष्णभावनामृत आन्दोलन अपने प्रतिनिधि संन्यासियों को विदेश भेजता है जहाँ दण्ड तथा कमण्डल को अधिक पसन्द नहीं किया जाता। हम अपने धर्मप्रचारकों को अपनी पुस्तकों तथा दर्शन का परिचय कराने के लिए सामान्य वेश-भूषा में भेजते हैं। हमारी एकमात्र चिन्ता कृष्णभावनामृत के प्रति लोगों को

आकृष्ट करना होती है। इसे हम संन्यासी की या भद्रपुरुष की वेश-भूषा में कर सकते हैं। हमारा एकमात्र लक्ष्य कृष्णभावनामृत में रुचि को प्रसारित करना है।

अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त-लिङ्गः—जिसमें संन्यास के लक्षण नहीं हैं; व्यक्त-अर्थः—जिसका अभिप्राय प्रकट हो; मनीषी—ऐसा महान् सन्त पुरुष; उन्मत्त—बेचैन; बाल-वत्—बच्चे के समान; कविः—महान् कवि या वक्ता; मूक-वत्—गूँगे व्यक्ति के समान; आत्मानम्—स्वयं; सः—वह; दृष्ट्या—उदाहरण से; दर्शयेत्—प्रस्तुत करे; नृणाम्—मानव समाज को।

साधु पुरुष भले ही मानव समाज के समक्ष अपने आपको प्रकट न करे, किन्तु उस के आचरण से उसका उद्देश्य प्रकट हो जाता है। उसे मानव समाज के समक्ष अपने को एक चंचल बालक की भाँति प्रस्तुत करना चाहिए और सर्वश्रेष्ठ विचारवान् वक्ता होकर भी उसे अपने को मूक व्यक्ति की तरह प्रदर्शित करना चाहिए।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में अत्यन्त प्रगत महापुरुष कदाचित् अपने आपको संन्यासी के चिह्नों से न भी प्रकट करे। अपने को छिपाने के लिए वह चंचल बालक या मूक व्यक्ति के समान रह सकता है, यद्यपि वह सर्वश्रेष्ठ वक्ता या कवि होता है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ पर; अपि—यद्यपि सामान्य लोगों के समक्ष प्रकट नहीं होता; उदाहरन्ति—विद्वान् साधु उदाहरण देते हैं; इमम्—इस; इतिहासम्—ऐतिहासिक घटना को; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज की; च—भी; संवादम्—वार्तालाप; मुनेः—महान् सन्त पुरुष का; आजगरस्य—अजगर की वृत्ति धारण किये; च—भी।

इसके ऐतिहासिक उदाहरण के रूप में विद्वान् मुनिजन एक प्राचीन वार्तालाप की कथा सुनाते हैं, जो प्रह्लाद महाराज तथा अजगर वृत्ति धारण किये एक महामुनि के मध्य हुआ था।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज की भेंट जिस मुनि से हुई थी उसने अजगर वृत्ति धारण कर रखी थी। अजगर वर्षों तक एक ही स्थान पर रहा करता है और कहीं नहीं जाता है और जो कुछ स्वतः मिल जाता है, वही खाता है। प्रह्लाद महाराज अपने पार्षदों सहित इस महामुनि से मिले और उनसे इस प्रकार बोले।

तं शयानं धरोपस्थे कावेर्या सह्यसानुनि ।
 रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ॥ १२ ॥
 ददर्श लोकान्विचरन्लोकतत्त्वविवित्सया ।
 वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (साधु पुरुष); शयानम्—लेटे हुए; धरा-उपस्थे—पृथ्वी पर; कावेर्याम्—कावेरी नदी के तट पर; सह्य-सानुनि—सह्य नामक पर्वत की तलहटी पर; रजः-वलैः—धूल-धूसरित; तनू-देशैः—शरीर के सारे अंगों से; निगूढ—अत्यन्त गहरा; अमल—निर्मल, स्वच्छ; तेजसम्—आध्यात्मिक शक्ति; ददर्श—देखा; लोकान्—विभिन्न लोकों में; विचरन्—घूमते हुए; लोक-तत्त्व—जीवों की प्रकृति (विशेषतया उनकी जो कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ना चाहते हैं); विवित्सया—समझने का प्रयास करने के लिए; वृतः—घिरा हुआ; अमात्यैः—राजसी पार्षदों से; कतिपयैः—कुछ; प्रह्लादः—महाराज प्रह्लाद; भगवत्-प्रियः—जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय है।

एकबार भगवान् के सर्वाधिक प्रिय सेवक प्रह्लाद महाराज अपने कतिपय विश्वस्त पार्षदों के साथ संत पुरुषों की प्रकृति का अध्ययन करने के लिए विश्व का भ्रमण करने निकले। वे कावेरी तट पर पहुँचे जहाँ सह्य नामक एक पर्वत है। वहाँ पर उन्हें एक महान् साधु पुरुष मिला जो भूमि पर लेटा था और धूल-धूसरित था, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह अत्यन्त बड़ा-चढ़ा था।

कर्मणाकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः ।
 न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कर्मणा—कर्म से; आकृतिभिः—शारीरिक बनावट से; वाचा—शब्दों से; लिङ्गैः—लक्षणों से; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम के चार भौतिक और चार आध्यात्मिक विभागों से सम्बन्धित; आदिभिः—अन्य लक्षणों से; न विदन्ति—नहीं समझ सके; जनाः—सामान्य लोग; यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; सः—कि वह; असौ—यही व्यक्ति था; इति—इस प्रकार; न—नहीं; वा—अथवा; इति—इस प्रकार; च—भी।

लोग न तो उस साधु पुरुष के कर्मों से, न शारीरिक लक्षणों से, न उसके शब्दों से, न उसके वर्णाश्रम धर्म के लक्षणों से यह समझ पाये कि यह वही पुरुष है, जिसे वे जानते थे।

तात्पर्य : सह्य पर्वत की घाटी में कावेरी नदी के तट पर रहने वाले उस स्थान के निवासी यह नहीं समझ पाये कि वह साधु पुरुष वही है, जिसे वे जानते थे। इसीलिए कहा गया है—*वैष्णवे क्रिया मुद्रा विज्ञे ना भुङ्गय।* उच्चकोटि का वैष्णव इस प्रकार रहता है कि कोई यह न समझ सके कि वह क्या है या क्या था। वैष्णव के भूतकाल को भी समझने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने इस सन्त पुरुष के विगत जीवन के विषय में पूछ-ताछ किये बिना तुरन्त ही सादर नमस्कार किया।

तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत्पादयोः शिरसा स्पृशन् ।
विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (साधु पुरुष को); नत्वा—प्रणाम करके; अभ्यर्च्य—तथा पूजा करके; विधि-वत्—शिष्टाचार के नियमानुसार;
पादयोः—साधु पुरुष के चरणकमलों को; शिरसा—सिर के बल; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए; विवित्सुः—उसके विषय में जानने
के इच्छुक; इदम्—यह; अप्राक्षीत्—पूछा; महा-भागवतः—भगवान् के महान् भक्त ने; असुरः—यद्यपि असुर कुल में उत्पन्न।

महाभागवत प्रह्लाद महाराज ने उस साधु पुरुष की विधिवत् पूजा की और प्रणाम किया जिसने अजगर-वृत्ति धारण कर रखी थी। इस प्रकार उस साधु पुरुष की पूजा करके तथा उसके चरणकमलों को अपने सिर से स्पर्श करके प्रह्लाद महाराज ने उसे समझने के उद्देश्य से विनीत भाव से इस प्रकार पूछा।

बिभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान्यथा ॥ १६ ॥

वित्तं चैवोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह ।

भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

बिभर्षि—पालन कर रहे हो; कायम्—शरीर; पीवानम्—स्थूल; स-उद्यमः—उद्यम करने वाला; भोगवान्—भोग करने वाला;
यथा—जिस तरह; वित्तम्—धन; च—भी; एव—निश्चय ही; उद्यम-वताम्—सदा आर्थिक विकास में लगे रहने वाले पुरुषों
का; भोगः—इन्द्रिय तृप्ति; वित्त-वताम्—प्रचुर धनी व्यक्तियों का; इह—इस संसार में; भोगिनाम्—भोक्ताओं का, कर्मियों का;
खलु—निस्सन्देह; देहः—शरीर; अयम्—यह; पीवा—अत्यन्त स्थूल; भवति—हो जाता है; न—नहीं; अन्यथा—अन्य कुछ।

उस साधु पुरुष को अत्यन्त स्थूल (मोटा) देखकर प्रह्लाद महाराज ने कहा : महोदय, आप अपनी जीविका अर्जित करने के लिए कोई उद्यम नहीं करते तो भी आपका शरीर उसी तरह हृष्ट-पुष्ट है जैसाकि भौतिकतावादी कर्मी (भोगी) का होता है। मुझे ज्ञात है कि यदि कोई अत्यन्त धनी हो और उसके पास कुछ भी काम करने को नहीं हो तो वह खाकर, सोकर और कोई काम न करके अत्यधिक स्थूल (मोटा) हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर नहीं चाहते थे कि उनके शिष्य कालान्तर में अत्यन्त स्थूल (मोटे) हो जाएं। वे अपने स्थूल (मोटे) शिष्यों को भोगी इन्द्रियों को भोगने वाले बनते देखकर अत्यन्त चिन्तित होते थे। इस दृष्टिकोण की पुष्टि यहाँ पर प्रह्लाद महाराज द्वारा की गई है। वे अजगर वृत्ति धारण किये एक साधु पुरुष को अत्यन्त स्थूल देखकर आश्चर्यचकित थे। भौतिक जगत में भी हम देखते हैं कि जब कोई गरीब दुबला व्यक्ति क्रमशः उद्योग या किसी और साधन के बल पर धन कमाने

लगता है, तो वह जी भरकर इन्द्रिय भोग करने लगता है। इस तरह वह स्थूल बन जाता है। अतएव आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्थूल होना तनिक भी सन्तोषप्रद नहीं है।

न ते शयानस्य निरुद्यमस्य

ब्रह्मन्नु हार्थो यत एव भोगः ।

अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः

पीवा यतस्तद्वद नः क्षमं चेत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—तुम्हारा; शयानस्य—लेटे हुए; निरुद्यमस्य—बिना काम-काज के; ब्रह्मन्—हे साधु पुरुष; नु—निस्सन्देह; ह—स्पष्ट है; अर्थः—धन; यतः—जिससे; एव—निस्सन्देह; भोगः—इन्द्रियभोग; अभोगिनः—इन्द्रिय भोग में न लगे हुए का; अयम्—यह; तव—तुम्हारा; विप्र—हे विद्वान् ब्राह्मण; देहः—शरीर; पीवा—स्थूल; यतः—जिस तरह; तत्—वह तथ्य; वद—कृपा करके कहो; नः—हमको; क्षमम्—क्षमा करो; चेत्—यदि मैंने धृष्टता की हो।

हे अध्यात्मज्ञानी ब्राह्मण, आपको कुछ नहीं करना पड़ता जिसके कारण आप लेटे हुए हैं।

यह भी माना जा सकता है कि इन्द्रियभोग के लिए आपके पास धन नहीं है। तो फिर आपका शरीर इतना स्थूल कैसे हो गया है? ऐसी परिस्थिति में यदि आप मेरे प्रश्न को प्रमादपूर्ण नहीं मानते तो कृपा करके बतलाएँ कि यह किस तरह से हुआ है?

तात्पर्य : सामान्यतया आध्यात्मिक उन्नति में लगे लोग एक ही बार भोजन करते हैं चाहे दोपहर के बाद या संध्या समय। यदि कोई केवल एक बार भोजन करे तो स्वाभाविक है कि वह स्थूल नहीं हो जाता। किन्तु यह विद्वान् साधु अधिक स्थूल था, अतएव प्रह्लाद महाराज अत्यन्त आश्चर्यचकित थे। आत्म-साक्षात्कार का अनुभव होने से अध्यात्मवादी के मुखमण्डल पर निश्चय ही तेज आ जाता है और जो आत्म-साक्षात्कार में बढ़ा-चढ़ा हो उसका शरीर ब्राह्मण के शरीर जैसा माना जाता है। चूँकि तेजवान् साधु पुरुष भूमि पर लेटा था और काम न करने पर भी काफी स्थूल था, इसलिए प्रह्लाद महाराज चकित थे और उससे इसके विषय में पूछना चाह रहे थे।

कविः कल्पो निपुणदृष्टिप्रियकथः समः ।

लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कविः—अत्यन्त विद्वान्; कल्पः—दक्ष; निपुण-दृक्—बुद्धिमान्; चित्र-प्रिय-कथः—मन को भाने वाले मधुर शब्द बोलने में समर्थ; समः—समदर्शी; लोकस्य—सामान्य लोगों का; कुर्वतः—लगे हुए; कर्म—सकाम कर्म; शेषे—तुम लेटे रहते हो; तत्-वीक्षिता—उन सब को देखते हुए; अपि—यद्यपि; वा—अथवा।

आप विद्वान, दक्ष तथा सभी प्रकार से बुद्धिमान प्रतीत होते हैं। आप बहुत अच्छा बोल सकते हैं और हृदय को भाने वाली बातें कर सकते हैं। आप देख रहे हैं कि सामान्य लोग सकाम कर्मों में लगे हुए हैं फिर भी आप यहाँ पर निष्क्रिय लेटे हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने उस साधु पुरुष के शारीरिक लक्षणों का अध्ययन किया और उसकी मुखाकृति से वे यह जान सके कि वह बुद्धिमान तथा दक्ष था, यद्यपि वह निष्क्रिय लेटा था। अतः स्वाभाविक था कि प्रह्लाद यह जानने के लिए उत्सुक हुए कि वह वहाँ निष्क्रिय क्यों पड़ा है।

श्रीनारद उवाच

स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः ।

स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; सः—वह साधु (लेटा हुआ); इत्थम्—इस प्रकार से; दैत्य-पतिना—दैत्यों के राजा (प्रह्लाद) द्वारा; परिपृष्टः—पूछा जाने पर; महा-मुनिः—महान् साधु पुरुष ने; स्मयमानः—मुसकाते हुए; तम्—उसको (प्रह्लाद को); अभ्याह—उत्तर देने को तैयार हुआ; तत्-वाक्—उसके शब्दों का; अमृत-यन्त्रितः—अमृत के द्वारा मुग्ध होकर।

नारद मुनि ने आगे कहा : जब दैत्यराज प्रह्लाद महाराज इस तरह से साधु पुरुष से प्रश्न कर रहे थे तो वह शब्दों की अमृत वर्षा से मुग्ध हो गया और उसने मुसकाते हुए प्रह्लाद महाराज की उत्सुकता का इस प्रकार जवाब दिया।

श्रीब्राह्मण उवाच

वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान्नन्वार्यसम्मतः ।

ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने उत्तर दिया; वेद—ठीक से जान लो; इदम्—ये सारी चीजें; असुर-श्रेष्ठ—हे असुरों में श्रेष्ठ; भवान्—आप; ननु—निस्सन्देह; आर्य-सम्मतः—जिनके कार्य सभ्य मनुष्यों द्वारा अनुमोदित होते हैं; ईहा—प्रवृत्ति का; उपरमयोः—हास का; नृणाम्—सामान्य लोगों की; पदानि—विभिन्न अवस्थाएँ; अध्यात्म-चक्षुषा—दिव्य आँखों के द्वारा।

साधु ब्राह्मण ने कहा : हे असुरश्रेष्ठ, हे महान् तथा सभ्य पुरुष द्वारा सम्मान्य प्रह्लाद महाराज, आप जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से अवगत हैं, क्योंकि आप मनुष्य के चरित्र को अपनी स्वाभाविक दिव्य दृष्टि से देख सकते हैं और इस तरह आप कर्मों की स्वीकृति तथा अस्वीकृति के परिणामों से भलीभाँति परिचित हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज जैसा शुद्ध भक्त अपनी शुद्ध भक्तिदृष्टि के कारण अन्यो के मन की बात जान सकता है। उन जैसा भक्त दूसरे पुरुषों के चरित्र का अध्ययन बिना किसी कठिनाई के कर सकता है।

यस्य नारायणो देवो भगवान्हृद्गतः सदा ।
भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; नारायणः देवः—भगवान् नारायण; भगवान्—भगवान्; हृत्-गतः—हृदय के अन्दर; सदा—सदैव; भक्त्या—भक्ति द्वारा; केवलया—अकेली; अज्ञानम्—अज्ञान को; धुनोति—स्वच्छ करता है; ध्वान्तम्—अंधकार को; अर्क-वत्—सूर्य के समान।

भगवान् नारायण, जो समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं आपके हृदय में अग्रणी हैं क्योंकि आप शुद्ध भक्त हैं। वे सदैव अज्ञान के अंधकार को उसी तरह दूर करते हैं जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड से अंधकार को दूर कर देता है।

तात्पर्य : भक्त्या केवलया शब्द सूचित करते हैं कि केवल भक्ति करने से मनुष्य पूर्ण ज्ञानी बन सकता है। कृष्ण समस्त ज्ञान के स्वामी हैं (ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः)। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं (ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति) और जब भगवान् भक्त पर प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे उसे उपदेश देते हैं। किन्तु भगवान् केवल भक्तों को ही ऐसा उपदेश देते हैं जिससे वे भक्ति में आगे बढ़ते जाँय। अन्यो को अर्थात् अभक्तों को वे उनकी शरणागति की विधि के अनुसार उपदेश देते हैं। शुद्ध भक्त का वर्णन भक्त्या केवलया शब्दों द्वारा हुआ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भक्त्या केवलया का अर्थ ज्ञान-कर्माद्यमिश्रया “सकाम कर्मो या शुष्क ज्ञान से अमिश्रित” है। मात्र चरणकमलों की शरण में जाना ही भक्त की प्रबुद्धता तथा जागरूकता का कारण है।

तथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन्यथाश्रुतम् ।
सम्भाषणीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छता ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तथापि—फिर भी; ब्रूमहे—मैं उत्तर दूँगा; प्रश्नान्—सारे प्रश्नों का; तव—तुम्हारे; राजन्—हे राजा; यथा-श्रुतम्—जैसा मैंने अधिकारियों से सुनकर सीखा है; सम्भाषणीयः—सम्बोधित किये जाने योग्य; हि—निस्सन्देह; भवान्—आप; आत्मनः—आत्मा की; शुद्धिम्—शुद्धि; इच्छता—इच्छा करने वाले के द्वारा।

हे राजन्, आप सब कुछ जानते हैं किन्तु आपने कुछ प्रश्न किये हैं, अतएव जैसा मैंने अधिकारियों से सुनकर सीखा है उसी के अनुसार उनका उत्तर देने का प्रयास करूँगा। मैं इस मामले में मौन नहीं रह सकता, क्योंकि जो आत्मशुद्धि का इच्छुक है उसके द्वारा आप जैसे व्यक्ति से वार्तालाप करना उपयुक्त होगा।

तात्पर्य : साधु पुरुष प्रत्येक व्यक्ति से बातें नहीं करना चाहता, अतएव वह गम्भीर तथा मौन बना रहता है। प्रायः सामान्य व्यक्ति को उपदेश दिये जाने की आवश्यकता भी नहीं रहती। कहा जाता है कि जब तक कोई उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार न हो साधु पुरुष को चाहिए कि उसे सम्बोधित न करे यद्यपि कभी-कभी साधु पुरुष महान् कृपावश सामान्य व्यक्तियों से बातें कर लेता है। किन्तु प्रह्लाद महाराज सामान्य व्यक्ति न थे, अतएव वे जो भी प्रश्न करते उसका उत्तर बड़े से बड़े पुरुष को भी देना होता था। अतएव वह साधु ब्राह्मण चुप नहीं रह सका, अपितु उत्तर देने लगा। किन्तु ये उत्तर उसके द्वारा कल्पित नहीं थे। इसकी जानकारी *यथाश्रुतम्* शब्दों से द्वारा दी गई है, जिसका अर्थ है “जैसाकि मैंने अधिकारियों से सुना है।” *परम्परा* पद्धति में जब प्रश्न प्रामाणिक होते हैं, तो उत्तर भी प्रामाणिक होते हैं। किसी को उत्तर बनाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे शास्त्रों का सन्दर्भ देना चाहिए और वैदिक ज्ञान के अनुसार उत्तर देना चाहिए। *यथाश्रुतम्* शब्द वैदिक ज्ञान को बताते हैं। वेदों को श्रुति कहा जाता है, क्योंकि यह ज्ञान अधिकारियों से प्राप्त किया जाता है। वेदों के कथन *श्रुति-प्रमाण* कहलाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि श्रुति से—वेदों या वैदिक वाङ्मय से—साक्ष्य दे और तब उसका कथन सही होगा। अन्यथा उसके शब्द मनगढ़न्त होंगे।

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूर्यया ।

कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तृष्णया—इच्छाओं के कारण; भव-वाहिन्या—प्रकृति के भौतिक नियमों की चपेट में; योग्यैः—क्योंकि यह; कामैः—भौतिक इच्छाओं से; अपूर्यया—अन्तहीन, एक के बाद एक; कर्माणि—कार्यकलाप; कार्यमाणः—कार्य करने के लिए बाध्य; अहम्—मैं; नाना-योनिषु—जीवन के विभिन्न रूपों में; योजितः—जीवन-संघर्ष में लगा हुआ।

अतृप्त भौतिक इच्छाओं के कारण मैं प्राकृतिक नियमों की तरंगों द्वारा बहा या लिए जा रहा था और जीवन की विभिन्न योनियों में जीवन-संघर्ष करते हुए विभिन्न कार्यकलापों में लगा रहा।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य अपनी विविध भौतिक इच्छाओं को पूरा करना चाहता है तब तक वह निरन्तर एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जिस प्रकार एक घास का तिनका नदी में गिर जाता है, तो वह तरह-तरह के काष्ठ तथा पेड़ की टहनियों के साथ बहता रहता है उसी प्रकार जीव भव-सागर में तैरता रहता है और भौतिक दशाओं के बीच टक्कर खाता तथा उछलता है। यही जीवन-संघर्ष है। एक प्रकार के सकाम कर्म से जीव को एक प्रकार का शरीर प्राप्त होता है और उस शरीर से किये गये कर्मों से दूसरा शरीर उत्पन्न होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि इन भौतिक कार्यकलापों को बन्द कर दे और ऐसा करने का अवसर मनुष्य-जीवन में ही प्राप्त हो पाता है। विशेष रूप से हमें अपनी कार्य शक्ति को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए, क्योंकि तब भौतिक कार्यकलाप स्वतः रुक जाएँगे। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण ग्रहण करके अपनी इच्छाएँ पूरी करे, क्योंकि वे इन्हें पूरा करना जानते हैं। अतएव भौतिक इच्छाओं के रहते हुए भी मनुष्य को भक्त की सेवा में लग जाना चाहिए। इससे उसका जीवन-संघर्ष शुद्ध हो जाएगा।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

“जिस व्यक्ति में व्यापक बुद्धि है, वह चाहे भौतिक इच्छाओं से पूर्ण हो, या किसी भी इच्छा से रहित हो या मुक्ति की कामना करता हो, उसे हर तरह से परम पुरुष भगवान् की पूजा करनी चाहिए।”

(भागवत २.३.१०)

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

“मनुष्य को चाहिए कि अनुकूल होकर तथा सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन द्वारा किसी प्रकार के भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।” (भक्तिरसामृत

सिन्धु १.१.११)

यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन् ।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—भौतिक प्रकृति की तरंगों द्वारा ले जाया जाकर; लोकम्—मनुष्य रूप; इमम्—यह; प्रापितः—प्राप्त किया हुआ; कर्मभिः—विभिन्न सकाम कर्मों के प्रभाव द्वारा; भ्रमन्—एक जीवन से दूसरे जीवन में घूमते हुए; स्वर्ग—स्वर्गलोक; अपवर्गयोः—मुक्ति के; द्वारम्—द्वार तक; तिरश्चाम्—निम्न योनियों तक; पुनः—फिर; अस्य—मनुष्यों की; च—तथा।

मैंने विकास प्रक्रिया के दौरान जो अवांछित भौतिक इन्द्रियतृप्ति के कारण सकाम कर्मों से उत्पन्न होती है यह मनुष्य रूप प्राप्त किया है, जो हमें स्वर्गलोकों तक, मुक्ति तक, निम्न योनियों तक या मनुष्य के बीच पुनर्जन्म लेने तक पहुँचा सकता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सारे जीव प्रकृति के नियमों के अनुसार जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में पड़े हुए हैं। विभिन्न योनियों में जन्म तथा मृत्यु का यह संघर्ष विकास प्रक्रिया कहलाता है, किन्तु पाश्चात्य जगत में इसकी गलत विवेचना की गई है। पशु से मनुष्य के विकास का डार्विन का विकास सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि यह सिद्धान्त विपरीत दशा को अर्थात् मनुष्य से पशु बनने की प्रक्रिया को प्रस्तुत नहीं करता। लेकिन इस श्लोक में वैदिक प्रमाण के आधार पर विकास की भलीभाँति व्याख्या की गई है। मनुष्य जीवन, जो विकास प्रक्रिया के दौरान प्राप्त होता है ऊपर उठने (*स्वर्गापवर्ग*) या नीचे गिरने का (*तिरश्चाम् पुनरस्य च*) अवसर है। यदि कोई इस मनुष्य जीवन का उचित उपयोग करता है, तो वह स्वर्गलोक जा सकता है जहाँ इस लोक की अपेक्षा भौतिक सुख हजारों गुना श्रेष्ठ है या फिर वह ज्ञान का अनुशीलन कर सकता है, जिससे वह विकास प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है और अपने मूल आध्यात्मिक जीवन को फिर से प्राप्त करता है। यह *अपवर्ग* या मुक्ति कहलाता है।

भौतिक जीवन *प-वर्ग* कहलाता है, क्योंकि यहाँ पर हमें दुख की पाँच विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना होता है। इन्हें प, फ, ब, भ तथा म अक्षरों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। *प* का अर्थ है *परिश्रम*, *फ* का *फेन* (मुँह का झाग—यथा अधिक श्रम करने पर घोड़े के मुख से निकला झाग), *ब* का *व्यर्थता* या निराशा (कठिन श्रम करने पर भी अन्त में निराशा मिलती है), *भ* से *भय* (भौतिक जगत में मनुष्य भय की अग्नि से जलता रहता है, क्योंकि कोई नहीं जानता कि आगे क्या होगा) तथा *म* से *मृत्यु*। जीवन की इन पाँच विभिन्न अवस्थाओं को निरस्त करने पर ही *अपवर्ग* या भौतिक जगत के दण्ड से मुक्ति मिल सकती है।

तिरश्चाम् शब्द पतित जीवन का सूचक है। निस्सन्देह, मनुष्य-जीवन सर्वश्रेष्ठ जीवन-दशाओं का अवसर प्रदान करता है। पश्चिम के लोग सोचते हैं कि मनुष्य बन्दर से आया और अब वह अधिक सुखपूर्वक रह रहा है। किन्तु यदि कोई इस मनुष्य-जीवन का उपयोग स्वर्ग या अपवर्ग के लिए नहीं करता तो वह पुनः कूकरो-सूकरो के निम्न जीवन में जा पड़ता है। अतएव विज्ञ मनुष्य को सदैव विचार करना चाहिए कि क्या वह स्वर्गलोक जाना चाहेगा, अपने को विकास प्रक्रिया से मुक्त करने की तैयारी करेगा या फिर से विकास प्रक्रम द्वारा उच्च तथा निम्न योनियों में घूमता रहेगा? यदि कोई पुण्य करता है, तो वह स्वर्गलोक जा सकता है या मुक्ति प्राप्त कर सकता है और भगवद्धाम वापस जा सकता है, अन्यथा वह कुत्ते या शूकर की निम्न योनि में गिर सकता है। जैसाकि भगवद्गीता (९.२५) में बताया गया है— *यान्ति देवव्रता देवान्*। जो लोग उच्चलोकों (देवलोक या स्वर्गलोक) को जाने के इच्छुक हैं उन्हें वैसी ही तैयारी करनी चाहिए। इसी प्रकार जो मुक्ति चाहते हैं और भगवद्धाम वापस जाना चाहते हैं उन्हें वैसी ही तैयारी करनी चाहिए। इसीलिए हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के लिए सर्वोत्कृष्ट वरदान है क्योंकि यह आन्दोलन लोगों को भगवद्धाम जाने की शिक्षा देता है। भगवद्गीता (१३.२२) में स्पष्ट कहा गया है कि जीवन के विभिन्न रूप भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के संयोग से प्राप्त होते हैं (*कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु*)। सतो, रजो या तमोगुणों की संगति के अनुसार ही मनुष्य को अपने अगले जन्म में उपयुक्त शरीर मिलता है। आधुनिक सभ्यता यह नहीं जानती कि जीव शाश्वत होते हुए भी प्रकृति की विभिन्न संगति के अनुसार विभिन्न रुग्ण परिस्थितियों में रखा जाता है जिन्हें अनेक योनियाँ कहते हैं। आधुनिक सभ्यता प्रकृति के नियमों से अनजान है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

“ भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर मोहग्रस्त आत्मा अपने को उन सारे कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।” (*भगवद्गीता* ३.२७) हर जीवात्मा प्रकृति के कठोर नियमों के पूर्ण नियंत्रण में है किन्तु मूढ़ लोग अपने को स्वतंत्र मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे स्वतंत्र नहीं हो सकते। यह मूर्खता है। मूर्खतापूर्ण सभ्यता अतीव घातक है, अतएव

कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को यह अवगत कराने का प्रयास कर रहा है कि वे प्रकृति के कठोर नियमों के अन्तर्गत पूर्णतया परतंत्र हैं और यह उन्हें श्रीकृष्ण की बहिरंगा शक्ति प्रबल माया द्वारा सताये जाने से बचाने का प्रयास कर रहा है। इन भौतिक नियमों के पीछे परम नियन्ता कृष्ण हैं (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। अतएव यदि कोई कृष्ण की शरण में जाता है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*) तो वह तुरन्त ही बाह्य प्रकृति के नियंत्रण से छूट सकता है (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

तत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये ।

कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; दम्-पतीनाम्—विवाह द्वारा जुड़े पुरुषों तथा स्त्रियों के; च—तथा; सुखाय—आनन्द के लिए, विशेषतया विषयी जीवन के आनन्द हेतु; अन्य-अपनुत्तये—दुख से बचने के लिए; कर्माणि—सकाम कर्मों को; कुर्वताम्—सदैव करते हुए; दृष्ट्वा—देखकर; निवृत्तः अस्मि—(ऐसे कार्यों से) अब मैं निवृत्त हूँ; विपर्ययम्—उल्टा।

इस मनुष्य-जीवन में पुरुष तथा स्त्री का मिलन मैथुन-सुख के लिए होता है, किन्तु हमने वास्तविक अनुभव से देखा है कि उनमें से कोई भी सुखी नहीं है। इसीलिए विपरीत परिणामों को देखकर मैंने भौतिकतावादी कार्यों में भाग लेना बन्द कर दिया है।

तात्पर्य : जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा— *यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्*। पुरुष या स्त्री दोनों ही विषय-भोग चाहते हैं और जब वे विवाह संस्कार द्वारा संयुक्त हो जाते हैं, तो वे कुछ काल तक तो सुखी रहते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा उनमें मतभेद आने लगता है और विवाह-विच्छेद के कई उदाहरण देखने में मिलते हैं। यद्यपि प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष संभोग के द्वारा जीवन भोगने के लिए वास्तव में इच्छुक है, किन्तु परिणाम निकलता है कलह तथा दुख। विवाह की संस्तुति पुरुषों तथा स्त्रियों को सीमित यौन-जीवन की छूट देने के लिए की जाती है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* में भी भगवान् ने की है— *धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—जो जीवन धर्मविरुद्ध नहीं है, वह कृष्ण है। प्रत्येक जीव यौन का भोग करने के लिए उत्सुक रहता है, क्योंकि भौतिकतावादी जीवन खाने, सोने, मैथुन तथा भय में निहित है। पशु-जीवन में खाने, सोने, मैथुन-सुख तथा भय को नियंत्रित नहीं किया जा सकता, किन्तु मानव समाज में इन सबको संयमित करना चाहिए। खाने की वैदिक योजना में कृष्ण को अर्पित भोजन या *यज्ञशिष्ट* तथा *प्रसाद* ग्रहण करने का विधान है। *यज्ञ शिष्टाःशिनः सन्तो मुच्यन्ते*

सर्वकिल्बिषैः—भगवान् के भक्तों को सारे पापों से मुक्त कर दिया जाता है, क्योंकि वे यज्ञ में अर्पित किया गया भोजन खाते हैं (*भगवद्गीता* ३.१३)। भौतिक जीवन में, विशेष रूप से खाते समय, मनुष्य पापकर्म करता है और पापकर्म करने से मनुष्य को प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर दण्डस्वरूप दूसरा शरीर ग्रहण करना पड़ता है। मैथुन तथा भोजन आवश्यक हैं, इसीलिए ये वैदिक प्रतिबन्धों के अन्तर्गत मानव समाज को प्रदान किये जाते हैं जिससे लोग वैदिक आदेशों के अनुसार खा सकें, सो सकें, मैथुन कर सकें, भयावह जीवन से रक्षा पा सकें और क्रमशः ऊपर उठकर इस शरीर के दण्ड से मुक्त हो सकें। इस प्रकार विवाह के लिए वैदिक आदेश मानव समाज को छूट देता है—किन्तु इसमें यह भाव निहित रहता है विवाह संस्कार से स्त्री तथा पुरुष संयुक्त होकर एक दूसरे को आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने में सहयोग देंगे। दुर्भाग्यवश, विशेष रूप से इस युग में स्त्री तथा पुरुष अनियंत्रित काम-भोग से संयुक्त होते हैं। इस तरह वे दण्डित होते हैं और उन्हें अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को पूरा करने के लिए पशु योनि में पुनः जन्म लेना पड़ता है। अतएव वैदिक आदेश सावधान करते हैं—*नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामान् अर्हते विद्भुजां* ये। मनुष्य को शूकरों की तरह यौन जीवन नहीं बिताना चाहिए और जो भी मिले, यहाँ तक कि मल भी, उसे खा नहीं लेना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि अर्चाविग्रह पर अर्पित किया गया *प्रसाद* खाए और वैदिक आदेशों के अनुसार काम-भोग करे। उसे कृष्णभावनामृत के काम में लगकर अपने आपको संसार की भयावह स्थिति से बचाना चाहिए और कठिन श्रम से उत्पन्न थकान को मिटाने के लिए ही सोना चाहिए।

उस विद्वान् ब्राह्मण ने कहा कि चूँकि सकाम कर्मियों द्वारा प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग किया जाता है अतएव मैंने समस्त सकाम कर्मों से संन्यास ले लिया है।

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः ।

मनःसंस्पर्शजान्दृष्ट्वा भोगान्स्वप्स्यामि संविशन् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सुखम्—सुख; अस्य—उसका; आत्मनः—जीव का; रूपम्—प्राकृतिक स्थिति; सर्व—समस्त; ईह—भौतिक कर्म; उपरतिः—पूर्णतया स्थगित करके; तनुः—अभिव्यक्ति का माध्यम; मनः—संस्पर्श—जान्—इन्द्रियतृप्ति के लिए माँगों से उत्पन्न; दृष्ट्वा—देखकर; भोगान्—इन्द्रियभोगों को; स्वप्स्यामि—चुप बैठा हूँ और इन भौतिक कार्यों के विषय में गहराई से सोच रहा हूँ; संविशन्—ऐसे कार्यों में पैठकर।

जीवों के लिए जीवन का वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक सुख का है और यही असली सुख है। यह सुख तभी प्राप्त किया जा सकता है जब मनुष्य सारे भौतिकतावादी कार्यकलापों को बन्द कर दे। भौतिक इन्द्रियभोग कोरी कल्पना है, अतएव इस विषय पर विचार कर मैंने सारे भौतिक कार्यकलाप बन्द कर दिये हैं और अब यहाँ लेटा हुआ हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर मायावादी तथा वैष्णव दर्शन का अन्तर बताया गया है। मायावादी तथा वैष्णव दोनों ही जानते हैं कि भौतिकतावादी कार्यकलाप में कोई सुख नहीं है। अतएव मायावादी दार्शनिक *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या* के नारे से चिपके रह कर मिथ्या भौतिक कार्यकलापों से दूर रहना चाहते हैं। वे समस्त कार्यकलापों को बन्द करके परब्रह्म में लीन होना चाहते हैं। किन्तु वैष्णव दर्शन के अनुसार यदि कोई भौतिक कार्य करना मात्र बन्द कर दे तो वह दीर्घकाल तक निष्क्रिय नहीं रह सकता; फलतः प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक कार्यों में लग जाना चाहिए जो इस संसार के दुखों की समस्या को हल कर देंगे। अतएव यह कहा जाता है कि यद्यपि मायावादी दार्शनिक भौतिकतावादी कार्यों से विलग रहने का प्रयास करके ब्रह्म में लीन होना चाहते हैं और वे ब्रह्म में वास्तव में लीन भी हो जाँएँ, किन्तु सक्रिय न होने के कारण वे पुनः भौतिक कर्म में आ गिरते हैं (*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधः*)। अतः तथाकथित त्यागी ब्रह्म के ध्यान में लीन न रह पाने से अस्पताल तथा पाठशालाएँ आदि खोलने के चक्कर में भौतिक कार्यों में लौट आता है। अतएव केवल ऐसे ज्ञान का अनुशीलन पर्याप्त नहीं है कि भौतिकतावादी कार्यकलाप सुख प्रदान नहीं प्रदान कर सकते, इसलिए मनुष्य ऐसे कर्मों को करना बन्द कर दे। मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी कार्यकलापों को त्याग कर आध्यात्मिक कार्यकलाप अंगीकार करे। तब इस समस्या का हल निकल आएगा। आध्यात्मिक कार्यकलाप कृष्ण के आदेश से सम्पन्न होने वाले कार्यकलाप हैं (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*)। जो कुछ कृष्ण कहते हैं, यदि उसे कोई करता है, तो उसके कार्यकलाप भौतिक नहीं होते। उदाहरणार्थ, जब अर्जुन ने भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार युद्ध किया तो उसके कार्यकलाप भौतिक नहीं थे। इन्द्रियतृप्ति के लिए युद्ध करना भौतिकतावादी कार्य है, किन्तु भगवान् के आदेश से युद्ध करना आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक कार्यों से मनुष्य भगवद्धाम वापस जाने के योग्य बनता है और तब वह नित्य आनन्दमय जीवन बिताता है। यहाँ, इस जगत में प्रत्येक वस्तु मात्र मनोधर्म है, जिससे हमें कभी

भी असली सुख नहीं मिल सकता। अतएव भौतिकतावादी कार्यकलापों को बन्द करके आध्यात्मिक कार्यों में लगना ही व्यावहारिक समाधान है। यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । यदि कोई भगवान्—यज्ञ या विष्णु—को प्रसन्न करने के लिए कर्म करता है, तो उसे मुक्त जीवन में स्थित समझा जाता है। किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाता वह बन्धनमय जीवन में रहता जाता है।

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् ।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—बद्ध पुरुष; आत्मनः—अपना; स्व-अर्थम्—निजी हित; सन्तम्—अपने भीतर स्थित होकर; विस्मृत्य—भुलाकर; वै—निस्सन्देह; पुमान्—जीव; विचित्राम्—आकर्षक मिथ्या वस्तुएँ; असति—भौतिक जगत में; द्वैते—आत्मा के अतिरिक्त; घोराम्—अत्यन्त भयावह (जन्म-मृत्यु को बारबार स्वीकार करने से); आप्नोति—फँस जाता है; संसृतिम्—संसृति में।

इस प्रकार बद्ध आत्मा शरीर के भीतर रहकर अपने हित को भूल जाता है, क्योंकि वह अपनी पहचान शरीर के रूप में करने लगता है। चूँकि, शरीर भौतिक होता है अतएव उसकी सहज प्रवृत्ति भौतिक जगत की विविधताओं की ओर आकृष्ट होने की रहती है। इस तरह जीव इस संसार के कष्टों को भोगता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति सुखी बनना चाहता है, क्योंकि जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है—सुखम् अस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः—जब जीव अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप में रहता है, तो वह स्वभाव से सुखी रहता है। आध्यात्मिक प्राणी के लिए दुखी रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार कृष्ण सदैव प्रसन्न रहते हैं उसी तरह उनके अंश रूप जीव भी स्वभाव से सुखी रहते हैं, किन्तु इस संसार में भेजे जाने से तथा कृष्ण से अपना नित्य सम्बन्ध भूल जाने के कारण वे अपने असली स्वभाव को भूल चुके हैं। चूँकि हममें से प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का अंश है, अतएव उनसे हमारा अत्यन्त वत्सल सम्बन्ध है, किन्तु हम अपना स्वरूप भूल जाने तथा शरीर को ही आत्मा मान लेने के कारण जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के सभी कष्टों से पीड़ित हैं। भौतिकतावादी जीवन की यह भ्रान्ति तब तक बनी रहती है जब तक मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को समझ नहीं लेता। बद्धजीव द्वारा सुख की खोज निश्चय ही मात्र भ्रम है, जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है।

जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया ।
मृगतृष्णामुपाधावेत्तथान्यत्रार्थदृक्स्वतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जलम्—जल; तत्-उद्भवैः—उस जल से उत्पन्न घास द्वारा; छन्नम्—ढका; हित्वा—छोड़कर; अज्ञः—मूर्ख पशु; जल-काम्यया—जल पीने की अभिलाषा से; मृगतृष्णाम्—मृगतृष्णा के; उपाधावेत्—पीछे दौड़ता है; तथा—उसी प्रकार; अन्यत्र—कहीं दूसरी जगह; अर्थ-दृक्—स्वार्थरत; स्वतः—अपने में।

जिस प्रकार एक हिरन अज्ञानतावश घास से ढके कुएँ के जल को न देख कर जल के लिए अन्यत्र दौड़ता फिरता रहता है उसी प्रकार भौतिक शरीर से आवृत यह जीव अपने भीतर के सुख को नहीं देख पाता और भौतिक जगत में सुख के पीछे दौड़ता रहता है।

तात्पर्य : यह एक उपयुक्त दृष्टान्त है कि ज्ञान के अभाव में जीव किस तरह अपने से बाहर सुख की तलाश में दौड़ता रहता है। जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को आध्यात्मिक प्राणी के रूप में जान लेता है, तो वह परम पुरुष कृष्ण को समझ सकता है और तभी कृष्ण तथा उसके बीच असली सुख का आदान-प्रदान होता है। यह ध्यान देना रोचक होगा कि किस तरह यह श्लोक आत्मा से शरीर के विकास को इंगित करता है। आधुनिक भौतिकतावादी विज्ञानी सोचता है कि जीव पदार्थ से निकलता है, लेकिन तथ्य तो यह है कि पदार्थ जीवन से उत्पन्न होता है। यहाँ पर जीव या आत्मा की तुलना जल से की गई है, जिसमें से घास के रूप में पदार्थ-पुंज प्रकट होता है। जो आत्मा के विज्ञान को नहीं जानता वह सुख को आत्मा में तलाश करने के लिए शरीर के अन्दर नहीं देखते। वरन् सुख की तलाश करने बाहर भागता है, जिस प्रकार घास के नीचे पानी के होने को न जानते हुए हिरण रेगिस्तान में जाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन उन दिग्भ्रमित मनुष्यों के अज्ञान को दूर करने का प्रयास कर रहा है, जो जीवन की सीमा से बाहर जल का अनुसंधान करना चाहते हैं। *रसो वै सः । रसोऽहमप्सु कौन्तेय ।* जल का स्वाद कृष्ण है। अपनी प्यास बुझाने के लिए कृष्ण की संगति रूपी जल को चखना चाहिए। यही वैदिक आदेश है।

देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः ।
दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

देह-आदिभिः—शरीर, मन, अहंकार तथा बुद्धि से; दैव-तन्त्रैः—परम शक्ति के अधीन; आत्मनः—आत्मा का; सुखम्—सुख; ईहतः—खोज करते हुए; दुःख-अत्ययम्—दुखों की कमी; च—भी; अनीशस्य—प्रकृति के अधीन जीव; क्रियाः—कार्यकलाप तथा योजनाएँ; मोघाः कृताः कृताः—पुनः-पुनः व्यर्थ हो जाती हैं।

जीव सुख प्राप्त करना चाहता है और दुख के कारणों से छूटना चाहता है, लेकिन चूँकी जीवों के शरीर प्रकृति के पूर्ण नियंत्रण में होते हैं, अतएव जीव एक के बाद एक विभिन्न शरीरों को पाकर जितनी भी योजनाएँ बनाता है वे अन्ततोगत्वा व्यर्थ हो जाती हैं।

तात्पर्य : चूँकि भौतिकतावादी व्यक्ति इस घोर अंधकार में रहता है कि प्रकृति के नियम किस प्रकार उसके कर्मों के अनुसार उस पर प्रभाव डालते हैं अतएव वह भूल करके आर्थिक विकास के उच्चलोकों में जाने के उद्देश्य से पुण्यकर्मों द्वारा तथा अन्य विधियों से मनुष्य-जीवन में शारीरिक सुपास भोगने की योजनाएँ बनाता है। किन्तु वास्तव में वह अपने कर्मफलों का शिकार बनता है। भगवान् सभी जीवों के अन्तस्तल में परमात्मा रूप में स्थित हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

“मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है।” जीव की इच्छाएँ तथा कार्यकलाप परमात्मा द्वारा देखे जाते हैं, क्योंकि वे *उपद्रष्टा* हैं और वे जीव की विविध इच्छाओं की पूर्ती के लिए प्रकृति को आदेश देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में स्पष्ट कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

भगवान् सबों के हृदय में आसीन रहते हैं और जो जैसा चाहता है उसी के अनुसार भगवान् उसे विविध प्रकार के शरीर प्रदान करते हैं, जो यंत्रों के समान हैं। जीव ऐसे यंत्र पर आरूढ़ होकर प्रकृति तथा उसके गुणों के वशीभूत रहकर ब्रह्माण्ड भर में घूमता है। इस तरह जीव कर्म करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं है, अपितु प्रकृति के पूर्णतया अधीन रहता है और यह प्रकृति भगवान् के पूर्ण नियंत्रण में रहती है।

ज्योंही जीव भौतिक इच्छाओं द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के लिए प्रताड़ित किया जाता है त्योंही उस पर प्रकृति का नियंत्रण हो जाता है, जिसका अधीक्षण परमात्मा द्वारा होता है। इसका परिणाम यह

होता है कि मनुष्य बारम्बार योजनाएँ बनाता है और निराश होता रहता है, किन्तु मूर्ख व्यक्ति होने के कारण वह इस निराशा का कारण नहीं देख पाता। इस कारण का स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—चूँकि मनुष्य परमेश्वर की शरण ग्रहण नहीं करता, अतएव उसे प्रकृति तथा उसके कठोर नियमों के अन्तर्गत कार्य करना होता है। इस बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय भगवान् की शरण ग्रहण करना है। मनुष्य जीवन में जीव को यह उपदेश परम पुरुष कृष्ण से ग्रहण करना चाहिए—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—“तुम सुख प्राप्त करने और दुख भगाने की योजना मत बनाओ। तुम इसमें कभी सफल नहीं होगे। तुम केवल मेरी शरण में आओ।” किन्तु दुर्भाग्यवश वह *भगवद्गीता* में स्पष्ट रूप में दिये गये भगवान् के इस आदेश को स्वीकार नहीं करता। इस तरह मनुष्य प्रकृति के नियमों का नित्य बन्दी बन जाता है।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः—यदि मनुष्य विष्णु या यज्ञ नाम से विख्यात कृष्ण की तुष्टि के लिए कर्म नहीं करता तो वह कर्मफलों के बन्धन में फँस जाएगा। ये बन्धन *पाप* तथा *पुण्य* कहलाते हैं। पुण्यकर्मों से मनुष्य उच्चलोकों को जाता है और पापकर्मों से अधम जीवयोनियों को प्राप्त होता है जिनमें वह प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित किया जाता है। जीवन की अधम योनियों में विकास प्रक्रम पाया जाता है और जब इन योनियों में जीव के बन्धन या दण्ड की अवधि समाप्त हो जाती है, तो उसे पुनः मनुष्य जीवन प्रदान किया जाता है और इसका अवसर दिया जाता है कि वह किस तरह योजना बनाए। यदि वह अवसर को पुनः खो देता है, तो उसे जन्म-मृत्यु के चक्कर में पुनः डाल दिया जाता है और *संसार-चक्र* में कभी वह नीचे जाता है, तो कभी ऊपर आता है। जिस प्रकार चक्र (पहिया) कभी नीचे तो कभी ऊपर जाता है उसी प्रकार प्रकृति के कठोर नियम जीव को कभी सुखी बनाते हैं, तो कभी दुखी। सुख-दुख के चक्र में वह जिस प्रकार कष्ट उटाता है उसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् ।

मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

आध्यात्मिक-आदिभिः—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक; दुःखैः—भौतिक जीवन के तीन प्रकार के दुखों से; अविमुक्तस्य—ऐसी दुखी अवस्थाओं से मुक्त न होने वाले का; कर्हिचित्—कभी-कभी; मर्त्यस्य—मरणशील जीव का; कृच्छ्र-

उपनतैः—दारुण दुखों के कारण प्राप्त वस्तुएँ; अर्थैः—यदि कुछ लाभ भी प्राप्त हो सके; कामैः—भौतिक इच्छाओं से पूरित; क्रियेत—जो वे करते हैं; किम्—और ऐसे सुख का क्या महत्त्व है।

भौतिकतावादी कार्यकलाप सदैव तीन प्रकार के दुखों—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक—से मिले-जुले होते हैं। अतएव यदि कोई ऐसे कार्य सम्पन्न करके कुछ सफलता प्राप्त भी कर ले तो उससे क्या लाभ है? उसे फिर भी जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा अपने कर्मफलों को भोगना होगा।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन—शैली के अनुसार यदि कोई निर्धन व्यक्ति कठिन श्रम करके जीवन के अन्त में कुछ लाभ प्राप्त करता है, तो यह सफलता मानी जाती है। यद्यपि वह तीन प्रकार के कष्टों—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक कष्टों को भोग करके पुनः मर जाता है। भौतिकतावादी जीवन के इन तीन प्रकार के कष्टों से कोई भी बच नहीं पाता। ये कष्ट हैं—तन तथा मन से सम्बन्धित; समाज, जाति, राष्ट्र तथा अन्य जीवों द्वारा थोपे गये कष्टों से सम्बन्धित; भूकम्प, सूखा, बाढ़, संक्रामक रोग इत्यादि प्राकृतिक उत्पातों से सम्बन्धित। यदि कोई इन तीनों कष्टों को सहते हुए अत्यधिक श्रम करता है और थोड़ा सा लाभ पाने में सफल हो जाता है, तो ऐसे लाभ से क्या लाभ? इसके अतिरिक्त यदि कोई कर्मी सम्पत्ति संग्रह करने में सफल भी हो जाता है, तो वह उसको भोग नहीं पाता, क्योंकि उसे निराशा में मरना होगा। मैंने एक मरणासन्न व्यक्ति को अपने डाक्टर से अपनी आयु चार वर्ष बढ़ा देने की याचना करते देखा है, जिससे वह अपनी योजना पूरी कर सके। निस्सन्देह, वह डाक्टर उस व्यक्ति की आयु को बढ़ाने में असमर्थ था, अतएव वह व्यक्ति निराशा में मर गया। प्रत्येक व्यक्ति को इसी तरह मरना है और प्रकृति हर व्यक्ति की मानसिक अवस्था का पता लगाकर उसे एक विभिन्न शरीर में उस इच्छा को पूरा करने का दूसरा अवसर प्रदान करती है। भौतिक सुख की सारी भौतिक योजनाएँ निरर्थक हैं, किन्तु माया के वशीभूत होकर हम उन्हें अत्यन्त मूल्यवान समझते हैं। ऐसे अनेक राजनीतिक, समाजसुधारक तथा दार्शनिक हुए हैं जिनकी मृत्यु अत्यन्त दुखद हुई है और उन्हें उनकी योजनाओं का कोई लाभ नहीं मिला। अतएव विज्ञ तथा विवेकवान् व्यक्ति कभी भी मात्र निराशा में मरने के लिए तीन प्रकार के कष्टों के अन्तर्गत कठिन श्रम करके कभी करना नहीं चाहता।

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम् ।

भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पश्यामि—देखता हूँ; धनिनाम्—अत्यन्त धनी व्यक्तियों में; क्लेशम्—कष्ट; लुब्धानाम्—अत्यन्त लालची; अजित-आत्मनाम्—अपनी इन्द्रियों के शिकार बनने वाले; भयात्—डर के कारण; अलब्ध-निद्राणाम्—जिन्हें अनिद्रा का रोग है; सर्वतः—चारों ओर से; अभिविशङ्किनाम्—विशेष रूप से भयभीत।

ब्राह्मण ने आगे कहा : मैं सचमुच देख रहा हूँ कि अपनी इन्द्रियों के वशीभूत हुआ एक धनी व्यक्ति किस तरह धन संचित करने का अत्यन्त लोभी होता है। अतएव सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य होते हुए भी चारों ओर से भय के कारण वह अनिद्र रोग का शिकार बन जाता है।

तात्पर्य : लालची पूँजीपति अनेक कष्ट सह कर सम्पत्ति का संचय करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उनका चित्त सदैव क्षुब्ध रहता है क्योंकि वे तरह-तरह के अनुचिता साधनों से धन संग्रह करते हैं। इस तरह वे रात्रि के समय सो नहीं पाते और मानसिक शान्ति पाने के लिए उन्हें नींद की गोलियाँ खानी पड़ती हैं। कभी-कभी गोलियाँ भी कारगर नहीं होतीं। अतएव इतने श्रम से एकत्र किये गये धन का परिणाम सुख नहीं अपितु केवल दुख होता है। ऐसा सुखद पद प्राप्त करने से क्या लाभ यदि मन की शान्ति भंग हो जाये? अतएव नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—

संसार बिषानले, दिबानिशि हियाज्वले।

जुड़ाइते ना कैनु उपाय

“मैं भौतिक भोग के विषकारी प्रभाव से कष्ट भोग रहा हूँ। इस तरह मेरा हृदय अहर्निश जलता रहता है और अपनी क्रिया बन्द करने वाला है।” लालची पूँजीपति द्वारा अनावश्यक रूप से सम्पत्ति संग्रह करने का परिणाम यह होता है कि उसे चिन्ता की ज्वाला में जलना पड़ता है और सदैव यही चिन्ता लगी रहती है कि वह अपना धन किस तरह बचाए और उसे कैसे लगाए ताकि उसे और धन मिल सके। निश्चय ही ऐसा जीवन बहुत सुखी नहीं होता, किन्तु माया के फेर में पड़कर भौतिकतावादी लोग ऐसे कार्यकलापों में लगे रहते हैं।

जहाँ तक हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सम्बन्ध है हम भगवत्कृपा से अपना साहित्य बेचकर सहज ही धन पा रहे हैं। यह साहित्य हमारी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं बेचा जाता। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करने के लिए हमें अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है अतएव इस उद्देश्य को अग्रसर करने के लिए कृष्ण आवश्यक धन की पूर्ति करते हैं। कृष्ण का मिशन

सारे विश्व में कृष्णभावनामृत को प्रसारित करना है और इस कार्य के लिए स्वाभाविक है कि हमें प्रचुर धन चाहिए। अतएव श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद की सलाह के अनुसार हमें उस धन के प्रति अपनी आसक्ति नहीं त्यागनी चाहिए जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार कर सके। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.२५६) में कहा है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

“जब मुक्ति के इच्छुक लोग भगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं का परित्याग कर देते हैं, चाहे वे भौतिक ही क्यों न हों तो यह अपूर्ण वैराग्य कहलाता है।” जो धन कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में सहायता करता है, वह भौतिक जगत का अंश नहीं होता, अतएव हमें चाहिए कि उसे भौतिक समझ कर त्यागें नहीं। श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ।

निर्बन्धः कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

“जब कोई किसी भी वस्तु के प्रति आसक्त नहीं रहता अपितु प्रत्येक वस्तु को कृष्ण की समझ कर ग्रहण करता है, तो वह स्वामित्व से ठीक ऊपर स्थित होता है” (*भक्ति रसामृतसिन्धु* १.२.२५५)। धन तो प्रचुर मात्रा में आता रहता है लेकिन हमें चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए इस धन के प्रति आसक्त न हों, प्रत्येक छदाम का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में हो, इन्द्रियतृप्ति में नहीं। प्रचारक के लिए उस समय संकट उत्पन्न होता है जब उसे पर्याप्त मात्रा में धन मिलता है, क्योंकि ज्योंही इस संग्रह में से एक भी छदाम अपनी निजी इन्द्रिय-तृप्ति में खर्च करता है त्योंही वह पतित हो जाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारकों को अत्यंत सावधान रहना चाहिए कि इस आन्दोलन के लिए आवश्यक प्रचुर धन का दुरुपयोग न करें। हम इस धन को अपने दुख का कारण न बनाएँ अपितु इसका उपयोग कृष्ण के लिए करें। यह हमारे शाश्वत सुख का कारण बन सकेगा। धन ही लक्ष्मी है, जो नारायण की सङ्गिनी हैं। लक्ष्मी जी को सदैव नारायण के साथ रहना चाहिए तब च्युत होने का कोई भय नहीं रहता।

राजतश्चौरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः ।

अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

राजतः—राज्य से; चौरतः—चोरों तथा ठगों से; शत्रोः—शत्रुओं से; स्व-जनात्—सम्बन्धियों से; पशु-पक्षितः—पशुओं तथा पक्षियों से; अर्थिभ्यः—भिखारियों तथा दान लेने वालों से; कालतः—समय से; स्वस्मात्—तथा अपने आप से; नित्यम्—नित्य; प्राण-अर्थ-वत्—जीवन या धन वाले के लिए; भयम्—डर।

जिन्हें भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली तथा धनी माना जाता है वे सामान्यतः सरकारी नियमों, चोर-उचक्यों, शत्रुओं, स्वजनों, पशुओं, पक्षियों, दान लेने वालों, काल, यहाँ तक कि अपने आप से चिन्तित रहते हैं। इस प्रकार वे अनिवार्यतः भयभीत रहते हैं।

तात्पर्य : स्वस्मात् शब्द का अर्थ है “अपने आप से”। धन के प्रति आसक्ति के कारण सबसे धनी पुरुष अपने आप से भी भयभीत रहता है। वह डरता रहता है कि हो सकता है कि मैंने धन को ठीक से तिजोरी में बन्द न किया हो या मुझसे कुछ त्रुटि हो गई हो। सरकार तथा उसके द्वारा लगाये गये आयकर एवं चोरों के अतिरिक्त धनी व्यक्ति के सम्बन्धी भी सदैव यही सोचते रहते हैं कि किस तरह उससे लाभ उठा कर उसका धन ले लिया जाये। कभी-कभी ये सम्बन्धी स्व-जनक-दस्यु कहलाते हैं जिसका अर्थ है “सम्बन्धियों के रूप में धूर्त तथा चोर”। अतएव सम्पत्ति जोड़ने या व्यर्थ ही अधिकाधिक धन के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जीव का असली उद्देश्य तो यह पूछना है कि “मैं कौन हूँ”? और अपने आपको समझना है। मनुष्य को इस संसार में जीव की स्थिति समझनी चाहिए और यह जानना चाहिए कि भगवद्धाम किस तरह लौटा जा सकता है।

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः ।

यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात्स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; मोह—मोह; भय—डर; क्रोध—क्रोध; राग—आसक्ति; क्लैब्य—दरिद्रता; श्रम—वृथा मेहनत; आदयः—इत्यादि; यत्-मूलाः—इन सबों का मूल कारण; स्युः—हो जाएँ; नृणाम्—मनुष्यों का; जह्यात्—छोड़ देना चाहिए; स्पृहाम्—इच्छा; प्राण—शारीरिक शक्ति या प्रतिष्ठा; अर्थयोः—तथा धन संग्रह करने के लिए; बुधः—बुद्धिमान।

मानव समाज के बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे शोक, लोभ, भय, क्रोध, अनुराग, दरिद्रता तथा अनावश्यक श्रम के मूल कारण को त्याग दें। इन सबों का मूल कारण अनावश्यक प्रतिष्ठा तथा धन की लालसा है।

तात्पर्य : यहाँ पर वैदिक सभ्यता तथा आधुनिक आसुरी सभ्यता का अन्तर दिया गया है। वैदिक सभ्यता में आत्म-साक्षात्कार करने पर बल रहता था और इसके लिए जीवन-निर्वाह हेतु थोड़ी सी आमदनी की संस्तुति की जाती थी। समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित किया गया था और इस समाज के सदस्य अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने प्रयासों को सीमित रखते थे। विशेषतः ब्राह्मणों में भौतिक इच्छाएँ नहीं रहती थीं, किन्तु क्षत्रियों को जनता पर शासन करना होता था, अतएव उनके पास धन तथा प्रतिष्ठा का होना आवश्यक था। लेकिन वैश्य कृषि-उपज तथा गाय के दूध से ही सन्तुष्ट थे और यदि इन उत्पादनों की अधिकता होती थी तो व्यापार करने की अनुमति दी जाती थी। शूद्र भी सुखी थे, क्योंकि तीनों उच्च-वर्णों से उन्हें भोजन तथा आश्रय प्राप्त होता था। किन्तु आज की आसुरी सभ्यता में न तो ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय का प्रश्न ही नहीं उठता है, तो केवल तथाकथित श्रमिक तथा समृद्ध व्यापारी जिनका कोई जीवन-उद्देश्य नहीं है।

वैदिक सभ्यता के अनुसार जीवन की चरम सिद्धि संन्यास ग्रहण करना है किन्तु अब लोग यह नहीं जानते कि संन्यास क्यों ग्रहण किया जाता है। न समझ पाने के कारण वे सोचते हैं कि संन्यास सामाजिक उत्तरदायित्व से बच निकलने के लिए ग्रहण किया जाता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। सामान्यतया आध्यात्मिक जीवन की चतुर्थ अवस्था में संन्यास स्वीकार किया जाता है। मनुष्य ब्रह्मचारी से प्रारम्भ करके पहले गृहस्थ बनता है, फिर वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी बनता है, जिससे वह अपनी जीवन-अवधि का लाभ उठाकर अपने आपको आत्म-साक्षात्कार में लगा सके। संन्यास का अर्थ द्वार-द्वार जाकर भीख माँगकर इन्द्रियतृप्ति के लिए धन संग्रह करना नहीं है। किन्तु, चूँकि लोग कलियुग में न्यूनाधिक रूप में इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख हैं, अतएव अपरिपक्व संन्यास की संस्तुति नहीं की जाती। श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* (२) में कहा है—

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः ।

जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥

“जो मनुष्य निम्नलिखित छः प्रकार के कार्यों में अत्यधिक फँसा रहता है उसकी भक्ति भ्रष्ट हो जाती है। ये हैं (१) आवश्यकता से अधिक खाना या आवश्यकता से अधिक धन संग्रह करना,

(२) उन संसारी वस्तुओं के लिए घोर प्रयास करना जिन्हें प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, (३) संसारी विषयों के बारे में वृथा बातें (४) आध्यात्मिक प्रगति के लिए नहीं, अपितु मात्र पालन करने के लिए शास्त्रीय विधि-विधानों का अभ्यास करना, या शास्त्रों के विधिविधानों का तिरस्कार करके स्वतंत्र रूप से या मनमाने ढंग से कार्य करना, (५) ऐसे संसारी पुरुषों की संगति करना जिनकी रुचि कृष्णभावनामृत में नहीं है तथा (६) भौतिक उपलब्धियों के लिए लालची बनना।” संन्यासी के पास ऐसा संस्थान होना चाहिए जो कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए हो; उसे चाहिए कि अपने लिए धन संचय न करे। हमारी तो संस्तुति है कि ज्योंही हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में धन संचित हो जाये त्योंही इसका पचास प्रतिशत पुस्तकों के मुद्रण में लगा दिया जाये और शेष पचास प्रतिशत को सारे विश्व में केन्द्र स्थापित करने के कार्य में लगाया जाये। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के व्यवस्थापकों को इस विषय में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए। अन्यथा यह धन शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, विपन्नता तथा वृथा श्रम का कारण बनेगा। जब मैं वृन्दावन में अकेला था तो मैंने कभी मठ या मन्दिर बनाने का प्रयास नहीं किया, प्रत्युत *बैंक टु गॉडहेड* पत्रिका बेचकर जो थोड़ा बहुत धन एकत्र कर लेता था उसी से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता था और उसी धन से अपना कार्य चलाता था और साहित्य भी छापता था। जब मैं विदेश गया तो वहाँ भी इसी सिद्धान्त के अनुसार रहा, किन्तु जब यूरोप तथा अमरीका-वासियों ने प्रचुर धन देना शुरू कर दिया तो मैंने मन्दिर बनवाया तथा अर्चाविग्रह पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। अब भी उसी सिद्धान्त का पालन होना चाहिए। जो भी धन संग्रह किया जाता है उसे कृष्ण पर खर्च करना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति पर एक छदाम भी व्यय नहीं होना चाहिए। यही *भागवत* सिद्धान्त है।

मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरुत्तमौ ।

वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मधुकार—मधुमक्खियाँ जो शहद एकत्र करने के लिए एक फूल से दूसरे फूल पर जाती हैं; महा-सर्पौ—बड़ा साँप (अजगर, अन्यत्र नहीं जाता); लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; नः—हमारा; गुरु—गुरु; उत्तमौ—उच्चकोटि का; वैराग्यम्—वैराग्य, त्याग; परितोषम् च—तथा संतोष; प्राप्ताः—प्राप्त किया हुआ; यत्-शिक्षया—जिसके आदेश से; वयम्—हम।

मधुमक्खी तथा अजगर दो श्रेष्ठ गुरु हैं, जो हमें इस सम्बन्ध में आदर्श उपदेश देते हैं कि किस तरह थोड़ा-थोड़ा संग्रह करके सन्तुष्ट रहा जाये और किस तरह एक ही स्थान में ठरहा जाये—हिला न जाये।

विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात् ।
कृच्छ्राप्तं मधुवद्वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत्पतिम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विरागः—विरक्ति; सर्व-कामेभ्यः—समस्त भौतिक इच्छाओं से; शिक्षितः—पढ़ाया गया; मे—मुझको; मधु-व्रतात्—मधुमक्खी से; कृच्छ्र—अत्यन्त कठिनाई से; आप्तम्—अर्जित; मधु-वत्—शहद के समान (धन ही शहद है); वित्तम्—धन; हत्वा—मारकर; अपि—भी; अन्यः—दूसरा; हरेत्—ले लेता है; पतिम्—स्वामी को ।

मधुमक्खी से मैंने सीखा है कि धन संग्रह करने से किस तरह विरक्त रहना चाहिए, क्योंकि यद्यपि धन शहद जैसा है, किन्तु कोई भी धन के स्वामी को मार कर धन को ले जा सकता है ।

तात्पर्य : छत्ते में एकत्र किए गए शहद को कोई भी बलपूर्वक ले जा सकता है । अतएव जो धन संग्रह करता है उसके मन में यह विचार उठना चाहिए कि वह सरकार या चोरों द्वारा सताया जा सकता है और उसके शत्रु उसका वध भी कर सकते हैं । इस कलियुग में तो विशेष करके सरकार स्वयं कानून के बल पर इस धन को छीन सकती है, नागरिकों से उसकी रक्षा करना दूर रहा । अतएव विद्वान् ब्राह्मण ने निश्चय किया था कि वह धन संग्रह नहीं करेगा । मनुष्य को अपने पास उतना ही धन रखना चाहिए जितने की उसे तुरन्त आवश्यकता हो । अपने पास बहुत अधिक धन रखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इससे यह भय बना रहता है कि सरकार या चोर इसे लूट न ले ।

अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम् ।
नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अनीहः—और अधिक रखने की इच्छा का होना; परितुष्ट—अत्यन्त सन्तुष्ट; आत्मा—आत्मा; यदृच्छा—अपने आप, बिना यत्न के; उपनतात्—मिली हुई वस्तुओं से; अहम्—मैं; नो—नहीं; चेत्—यदि ऐसा; शये—लेटा रहता हूँ; बहु—अनेक; अहानि—दिन; महा-अहिः—अजगर; इव—सदृश; सत्त्व-वान्—धैर्यवान् ।

मैं किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं करता, अपितु जो कुछ भी अपने आप मिल जाता है उसी से सन्तुष्ट रहता हूँ । यदि मुझे कुछ भी नहीं मिलता तो अजगर की तरह मैं अविक्षिप्त रहते हुए धैर्यपूर्ण रहता हूँ और कई-कई दिनों तक पड़ा रहता हूँ ।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि मधुमक्खियों से विरक्ति सीखे, क्योंकि वे बूँद-बूँद करके मधु का संचय करती हैं और अपने छत्ते में रखती हैं, किन्तु कोई न कोई आकर इस मधु को बलपूर्वक निकाल ले जाता है और मधुमक्खियों के पास कुछ नहीं बचता । अतएव मधुमक्खियों से सीखना चाहिए कि

आवश्यकता से अधिक धन न रखा जाये। इसी प्रकार अजगर से एक ही स्थान पर बिना भोजन किये कई दिनों तक पड़े रहने की और जब अपने आप कुछ मिले तभी खाने की सीख लेनी चाहिए। इस तरह विद्वान ब्राह्मण ने मधुमक्खी तथा अजगर इन दो प्राणियों से प्राप्त शिक्षाएँ दीं।

क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा
क्वचिद्भूरि गुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित् ।
श्रद्धयोपहतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद्दिवा नक्तं यदृच्छया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; अल्पम्—अत्यन्त थोड़ा; क्वचित्—कभी; भूरि—काफी मात्रा; भुञ्जे—खाता हूँ; अन्नम्—भोजन; स्वादु—स्वादु; अस्वादु—बासी; वा—अथवा; क्वचित्—कभी; भूरि—अधिक; गुण-उपेतम्—सुगंधित; गुण-हीनम्—गंधरहित; उत—चाहे; क्वचित्—कभी; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; उपहतम्—किसी के द्वारा लाया गया; क्वापि—कभी; कदाचित्—कभी; मान-वर्जितम्—बिना सम्मान के प्रदत्त; भुञ्जे—खाता हूँ; भुक्त्वा—खाकर; अथ—इस तरह; कस्मिन् चित्—कभी किसी स्थान पर; दिवा—दिन; नक्तम्—अथवा रात्रि में; यदृच्छया—जैसा भी मिल जाय।

कभी मैं थोड़ा खाता हूँ और कभी अधिक। कभी भोजन स्वादिष्ट होता है, तो कभी बासी। कभी बड़े आदर के साथ मुझे प्रसाद दिया जाता है और कभी अत्यन्त उपेक्षा से भोजन मिलता है। कभी मैं दिन में खाता हूँ तो कभी रात में। इस प्रकार मुझे जो कुछ आसानी से मिल जाता है उसे ही खाता हूँ।

क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा ।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक्तुष्टधीरहम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

क्षौमम्—लिनन का कपड़ा; दुकूलम्—रेशमी या सूती; अजिनम्—मृगचर्म; चीरम्—चिरकुट, लंगोट; वल्कलम्—छाल; एव—जैसा हो; वा—अथवा; वसे—धारण करता हूँ; अन्यत्—अन्य कुछ; अपि—यद्यपि; सम्प्राप्तम्—उपलब्ध; दिष्ट-भुक्—भाग्यवश; तुष्ट—संतुष्ट; धीः—मन; अहम्—मैं हूँ।

शरीर ढकने के लिए मेरे भाग्य से मुझे जो कुछ भी मिल जाता है, चाहे क्षौम वस्त्र हो या रेशमी या सूती कपड़ा, चाहे पेड़ की छाल हो या मृगछाला, उसे मैं काम में लाता हूँ। मैं पूर्ण संतुष्ट रहता हूँ तथा विचलित नहीं होता।

क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु ।
क्वचित्प्रासादपर्यङ्गे कशिपौ वा परेच्छया ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; शये—लेटता हूँ; धर-उपस्थे—पृथ्वी की सतह पर; तृण—घास पर; पर्ण—पत्तियाँ; अश्म—पत्थर; भस्मसु—या राख के ढेर पर; क्वचित्—कभी; प्रासाद—महल में; पर्यङ्के—उच्चकोटि के बिस्तर पर; कशिपौ—तकिया पर; वा—अथवा; पर—दूसरे की; इच्छया—इच्छा से।

कभी मैं पृथ्वी पर, कभी पत्तियों पर, घास या पत्थर पर तो कभी राख के ढेर पर अथवा कभी-कभी अन्यो की इच्छा से महल के उच्च कोटि के बिस्तर तथा तकिये पर सोता हूँ।

तात्पर्य : विद्वान् ब्राह्मण का यह वर्णन सूचित करता है कि जन्म विभिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि अपने शरीर के अनुसार ही कोई लेटता है। कभी कोई पशु के रूप में जन्मता है, तो कभी राजा के रूप में। जब वह पशु के रूप में जन्म लेता है, तो उसे जमीन पर लेटना पड़ता है और जब वह राजा या धनी के रूप में जन्म लेता है, तो बड़े-बड़े महलों के उत्तम कमरों में लेटता है, जो बिस्तर तथा फर्नीचर से सज्जित रहते हैं। किन्तु ऐसी सुविधाएँ जीव की इच्छा से उपलब्ध नहीं होतीं, प्रत्युत परेच्छया अर्थात् माया के प्रबन्ध से प्राप्त होती हैं। जैसाकि भगवद्गीता (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

“हे अर्जुन! भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और उन सारे जीवों के घूमने का निर्देश करते हैं, जो मानो माया रूपी यंत्र पर आरूढ़ हों।” जीव को अपनी भौतिक इच्छाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं, जो भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदत्त यंत्रों के समान हैं। भगवत्कृपा से हर एक को लेटने के विविध साधनों से सम्पन्न विभिन्न शरीर धारण करने होते हैं।

क्वचित्स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्नग्व्यलङ्कृतः ।

रथेभाश्वेश्वरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद्विभो ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; स्नातः—ठीक से नहाया; अनुलिप्त-अङ्गः—सारे शरीर में चन्दन का लेप लगा; सु-वासाः—सुन्दर वस्त्रों से सज्जित; स्नग्वी—पुष्प हारों से सजा; अलङ्कृतः—विभिन्न प्रकार के आभूषणों से सुशोभित; रथ—रथ; इभ—हाथी; अश्वैः—या घोड़े की पीठ पर; चरे—मैं विचरण करता हूँ; क्वापि—कभी; दिक्-वासाः—पूर्णतया नग्न; ग्रह-वत्—मानो भूत-प्रेत पीछा किये हों; विभो—हे स्वामी।

हे स्वामी, कभी मैं ठीक से स्नान करके सारे शरीर में चन्दन का लेप करता हूँ, फूलों की माला पहनता हूँ और सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण करता हूँ। फिर मैं राजा की तरह हाथी की पीठ पर या रथ या घोड़े पर सवार होकर विचरण करता हूँ। किन्तु कभी-कभी मैं भूत-प्रेत द्वारा सताये व्यक्ति की तरह नंग-धड़ंग घूमता हूँ।

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् ।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; निन्दे—निन्दा करता हूँ; न—न तो; च—भी; स्तौमि—प्रशंसा करता हूँ; स्व-भाव—जिसका स्वभाव;
विषमम्—विपरीत; जनम्—जीव या मनुष्य; एतेषाम्—उन सबों का; श्रेयः—चरम लाभ; आशासे—चाहता हूँ, मनाता हूँ;
उत—निस्सन्देह; ऐकात्म्यम्—एकात्मता; महा-आत्मनि—परमात्मा या परब्रह्म (कृष्ण) में।

विभिन्न लोग विभिन्न स्वभाव के होते हैं; अतएव उनकी प्रशंसा करना या उनकी निन्दा करना मेरा कार्य नहीं है। मैं तो इस आशा से उनके कल्याण की कामना करता हूँ कि वे परमात्मा, भगवान् श्रीकृष्ण के साथ एकात्मता स्वीकार करेंगे।

तात्पर्य : ज्योंही मनुष्य भक्तियोग पद तक पहुँच जाता है त्योंही वह भली भाँति जान जाता है कि भगवान् वासुदेव ही जीवन-लक्ष्य हैं (वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः)। समस्त वैदिक वाङ्मय का यही आदेश है (वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः; सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज)। किसी की भौतिक योग्यताओं के लिए प्रशंसा करने या दुर्गुणों के लिए निन्दा करने से कोई लाभ नहीं होता। भौतिक जगत में अच्छे तथा बुरे का कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि अच्छा व्यक्ति स्वर्ग को जा सकता है और बुरा व्यक्ति अधोलोक को जा सकता है। विभिन्न स्वभावों के लोग कभी ऊपर उठाए जाते हैं और कभी गिरा दिए जाते हैं किन्तु यह जीवन-लक्ष्य नहीं है। जीवन का लक्ष्य तो उत्थान-पतन से मुक्त होकर कृष्णभावनामृत को ग्रहण करना है। अतएव सन्त पुरुष तथाकथित अच्छे तथा बुरे में भेदभाव नहीं बरतता, प्रत्युत वह कामना करता है कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्णभावनामृत में सुखी रहे, जो जीवन का चरम लक्ष्य है।

विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे ।
मनो वैकारिके हुत्वा तं मायायां जुहोत्यनु ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विकल्पम्—भेदभाव (अच्छे-बुरे, एक दूसरे व्यक्ति, एक दूसरे राष्ट्र में); जुहुयात्—आहुति डाले; चित्तौ—चेतना रूपी अग्नि में; ताम्—उस चेतना को; मनसि—मन में; अर्थ-विभ्रमे—समस्त स्वीकृति तथा अस्वीकृति की जड़; मनः—उस मन को; वैकारिके—पदार्थ के साथ अपनी पहचान के मिथ्या अहंकार में; हुत्वा—आहुति देकर ; तम्—इस मिथ्या अहंकार को; मायायाम्—माया में; जुहोति—आहुति डालता है; अनु—इस सिद्धान्त का पालन करते हुए।

अच्छे तथा बुरे के भेदभाव की जो मानसिक कल्पना (मनोरथ) है उसे इकाई रूप में स्वीकार करके उसे मन में लगाना चाहिए और तब मन को मिथ्या अहंकार में लगाना चाहिए। इस मिथ्या अहंकार को माया में लगाना चाहिए। मिथ्या भेदभाव से लड़ने की विधि यही है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि योगी किस तरह भौतिक राग से मुक्त हो सकता है। भौतिक आकर्षण के कारण कर्मी अपने को देख नहीं सकता। ज्ञानी पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर जान सकता है, किन्तु योगी जिन में सर्वोत्कृष्ट भक्ति योगी भगवद्धाम जाना चाहते हैं। कर्मी लोग घोर मोह में रहते हैं; ज्ञानी न तो मोह में रहते हैं न वास्तविक ज्ञान में किन्तु योगीजन, विशेष रूप से भक्ति योगी, पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर रहते हैं। जैसाकि भगवद्गीता (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।” इस तरह भक्त का पद सुरक्षित है। वह तुरन्त आध्यात्मिक पद तक उन्नत कर दिया जाता है। अन्य लोग, यथा ज्ञानी तथा हठयोगी भौतिक भेद-भाव को त्यागने तथा “मैं पदार्थ से उत्पन्न यह शरीर हूँ” इस मिथ्या अहंकार को त्यागने के बाद ही धीरे-धीरे इस पद को प्राप्त करते हैं। मनुष्य को इस मिथ्या अहंकार को माया में लीन करना होता है और इस माया को परम शक्तिमान में लीन करना होता है। भौतिक आकर्षण से मुक्त होने की यही विधि है।

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात्सत्यदृग्मुनिः ।

ततो निरीहो विरमेत्स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

आत्म-अनुभूतौ—आत्म-साक्षात्कार में; ताम्—उस; मायाम्—शरीर के मिथ्या अहंकार को; जुहुयात्—आहुति कर देना चाहिए; सत्य-दृक्—परम सत्य की वास्तविक अनुभूति करने वाले का; मुनिः—विचारवान् व्यक्ति; ततः—इस आत्म-साक्षात्कार के कारण; निरीहः—भौतिक इच्छाओं से रहित; विरमेत्—भौतिक कार्यों से अवकाश ले लेना चाहिए; स्व-अनुभूति-आत्मनि—आत्म-साक्षात्कार में; स्थितः—स्थित।

विद्वान् विचारवान् व्यक्ति को इसकी अनुभूति होनी चाहिए कि यह भौतिक जगत मोह है किन्तु ऐसा आत्म-साक्षात्कार द्वारा ही सम्भव है। ऐसे स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को, जिसने सत्य का

वास्तविक साक्षात्कार किया है, आत्म-साक्षात्कार होने के कारण समस्त भौतिक कार्यकलापों से अवकाश ले लेना चाहिए।

तात्पर्य : शरीर की पूरी बनावट संरचना के विश्लेषणात्मक अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आत्मा शरीर के भौतिक अवयवों—यथा पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि—से सर्वथा भिन्न है। अतएव विचारवान व्यक्ति (मनीषी या मुनि) द्वारा ही शरीर तथा आत्मा के भेद की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है और इस व्यष्टि आत्मा को समझ लेने के बाद परमात्मा को सरलता से समझा जा सकता है। इस प्रकार यदि मनुष्य अनुभव करता है कि व्यष्टि आत्मा परमात्मा के अधीन है, तो उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में बतलाया गया है, शरीर के भीतर दो आत्माएँ हैं। शरीर क्षेत्र है और इसमें रहने वाले दो क्षेत्रज्ञ हैं जिनके नाम हैं परमात्मा तथा आत्मा। परमात्मा तथा आत्मा एक ही वृक्ष (शरीर) पर बैठे दो पक्षियों के समान हैं—एक पक्षी जो कि भुलकड़ है वृक्ष के फल खा रहा है और दूसरे पक्षी के आदेशों की परवाह नहीं करता जो अपने इस मित्र पक्षी के कार्यकलापों का साक्षी मात्र है। जब भुलकड़ पक्षी अपने परम मित्र को समझता है, जो सदैव उसके साथ रहकर विभिन्न शरीरों में मार्गदर्शन करने का प्रयास करता है, तो वह उस परम पक्षी के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है। जैसाकि योग विधि में बताया गया है—*ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*। जब कोई पूर्ण योगी बन जाता है, तो ध्यान द्वारा वह अपने परम मित्र को देख सकता है और उसकी शरण में जाता है। यही भक्तियोग का या कृष्णभावनामृतमय के वास्तविक जीवन का शुभारम्भ है।

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम् ।

व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान्हि भगवत्परः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

स्व-आत्म-वृत्तम्—आत्म-साक्षात्कार के इतिहास की सूचना; मया—मेरे द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; ते—तुम्हें; सु-गुप्तम्—अत्यन्त गोपनीय; अपि—यद्यपि; वर्णितम्—बतलाई गई; व्यपेतम्—के बिना; लोक-शास्त्राभ्याम्—सामान्य व्यक्ति या सामान्य ग्रंथों का मत; भवान्—आप; हि—निस्सन्देह; भगवत्-परः—भगवान् का भलीभाँति साक्षात्कार करके।

प्रह्लाद महाराज, आप निश्चय ही स्वरूपसिद्ध आत्मा तथा भगवद्भक्त हैं। आप न तो जन-मत की परवाह करते हैं, न ही तथाकथित शास्त्रों की। इस कारण मैंने आपसे निःसंकोच भाव से अपने आत्म-साक्षात्कार का इतिहास कह सुनाया।

तात्पर्य : जो व्यक्ति वास्तव में कृष्ण भक्त है, वह तथाकथित जनमत तथा वैदिक या दार्शनिक ग्रंथों की परवाह नहीं करता। प्रह्लाद महाराज ऐसे ही भक्त हैं जिन्होंने अपने पिता तथा उन्हें शिक्षा देने के लिए निमुक्त किए गए अपने तथाकथित शिक्षकों के झूठे उपदेशों का उल्लंघन किया। उल्टे, वे अपने गुरु नारद मुनि के आदेशों का पालन करते रहे और इस तरह वे सदैव महाभागवत बने रहे। बुद्धिमान भक्त का यही स्वभाव है। श्रीमद्भागवत की शिक्षा है— यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः । जो वास्तव में अत्यन्त बुद्धिमान है उसे अपने को कृष्ण का नित्य दास मानते हुए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हो जाना चाहिए और भगवन्नाम के कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का अभ्यास करना चाहिए।

श्रीनारद उवाच

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः ।

पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; धर्मम्—वृत्तिपरक कर्तव्य; पारमहंस्यम्—परमहंसों अर्थात् अत्यन्त पूर्ण मनुष्यों का; वै—निस्सन्देह; मुनेः—साधु पुरुष से; श्रुत्वा—सुनकर; असुर-ईश्वरः—असुरों के राजा प्रह्लाद महाराज ने; पूजयित्वा—साधु पुरुष की पूजा करके; ततः—तत्पश्चात्; प्रीतः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; प्रययौ—उस स्थान को छोड़ दिया; गृहम्—अपने घर जाने के लिए।

नारद मुनि ने आगे कहा : साधु से ये उपदेश सुन कर असुरराज प्रह्लाद महाराज पूर्ण पुरुष (परमहंस) के वृत्तिपरक कर्तव्य समझ गये। इस प्रकार उन्होंने उस सन्त की विधिपूर्वक पूजा की और उससे अनुमति लेकर अपने घर के लिए विदा हुए।

तात्पर्य : जैसाकि चैतन्य-चरितामृत (मध्य ८.१२८) में उद्धृत किया गया है, श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय ।

येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता सेइ 'गुरु' हय ॥

कोई भी ऐसा व्यक्ति जो कृष्ण के विज्ञान से पूर्ण तथा अवगत हो गुरु बन सकता है। अतएव प्रह्लाद महाराज असुरों पर शासन करने वाले गृहस्थ होते हुए भी परमहंस थे; फलस्वरूप वे हमारे गुरु हैं। इसीलिए गुरुओं की सूची में प्रह्लाद महाराज के नाम का उल्लेख है—

स्वयम्भून्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥

(भागवत ६.३.२०)

निष्कर्ष यह निकला कि परमहंस श्रेष्ठ भक्त होता है (भगवत्प्रिय)। ऐसा परहंस किसी भी अवस्था में—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में—समान रूप से मुक्त तथा उत्कृष्ट रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत “सिद्ध पुरुष का आचरण” नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।